जेल से लिखे गए पत्र एवं अन्य लेख

संकलन

देवेश चन्द्र

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-2177-3

पहला संस्करण : 1997

पहली आवृत्ति : 2000 (*शक 1921*)

Jail se likha gaya patra evam any lekh (*Hindi*)

रु. 11.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110 016 द्वारा प्रकाशित

विषय सूची

भूमिका

भारत के राजनैतिक इतिहास में उन्नीसवीं सदी के अंत एवं बीसवीं सदी के आरंभिक काल का स्थान बड़ा ही महत्वपूर्ण है। यह वह समय है जब व्यापार के बहाने आने वाले अंग्रेजों ने इस देश की धरती पर अपना शिकंजा कस दिया। शासक बनकर अपने स्वार्थ के लिए देश को रौंदना शुरू कर दिया। उनके अमानवीय व्यवहार के खिलाफ लोगों ने क्रांति करने का निश्चय कर लिया। सन 1857 की क्रांति से ब्रिटिश शासन आतंकित हो उठा। उसे 'दमन' के अलावा कोई और उपाय नहीं सूझ पड़ा। एक के बाद एक कानून बनाए गए। सन 1860 में 'इंडियन पेनल कोड' और सन 1861 में 'कोड आफ क्रिमिनल प्रोसीजर' लागू किए गए। इसी प्रकार 1878 में 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' बना और इंडियन पेनल कोड में धारा 124-ए और 153-ए जोड़ी गई। आगे चलकर सन 1908 में एक ही दिन अर्थात 8 जून को दो और दमनकारी कानून बनाए गए, 'एक्सप्लोजिव सब्स्टैंसेज एक्ट' और 'न्यूजपेपर एक्ट' (इनसाइटमेंट टु आफेसेज एक्ट) 'डिफेंस ऑफ इंडिया एक्ट' इसी की एक कड़ी रही। न्यूजपेपर एक्ट में जिला मजिस्ट्रेटों को किसी भी प्रिंटिंग प्रेस को जब्त करने और किसी भी समाचारपत्र को बंद

करने का अधिकार दिया गया। लाला लाजपत राय और अजीत सिंह को देश निकाला देकर मई 1907 में मांडले की सेंट्रल जेल में रखा गया। वासुदेव बलवंत फड़के को काला पानी की सजा देकर भारत से बहुत दूर अदन के किले में बंद कर दिया था। देशभक्ति की यह लौ विदेशों में रह रहे भारतीयों में भी फैली। कुल मिला कर इस विशाल भूखंड में जिसमें वह भाग भी शामिल था जो पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान (जो बाद में बांग्ला देश के नाम से स्वतंत्र राष्ट्र बना) कहा गया। अनेक छोटे बड़े दल बने लेकिन इन सबका उद्देश्य एक था–भारत की स्वतंत्रता। इस स्वतंत्रता आंदोलन की प्रेरणा हमारे देश में ही जन्मी। लेकिन जो लोग विदेशों के संपर्क में थे उन्हें इसके लिए प्रोत्साहन आयरलैंड, अमेरिका, इटली, जर्मनी, फ्रांस, रूस आदि देशों के इतिहास से मिला।

इस आंदोलन का नेतृत्व आरंभ में सशस्त्र क्रांति में विश्वास रखने वाले लोगों के हाथों में रहा। इन्हें उग्रवादी, उग्रपंथी या विप्लववादी आदि न जाने कितने नाम दिए गए। ये लोग भूमिगत रहकर क्रांति की योजनाएं बनाते और उन पर अमल करते। अजीत सिंह से लेकर चंद्रशेखर आजाद आदि क्रांतिकारियों की एक लंबी सूची है। इन क्रांतिकारियों के आदर्श की कुछ झांकी शचीन्द्र सान्याल की आत्मकथा 'बंदी जीवन' और रामप्रसाद 'बिस्मिल' के 'आत्मचरित' के अलावा वीर सावरकर की 'माझी जन्म ठेप' नामक कृति से मिल सकती है। इन क्रांतिकारियों में जो एक सामान्य विशेषता मिलती है वह है आत्मगोपन, देशभक्ति का एक अजीब-सा उन्माद। उनके लिए यह जीवन एक सफर रहा। ये क्रांतिकारी अपना वेश ही नहीं, अपना नाम भी बदल देते

थे। एम.एन. राय भी ऐसे ही क्रांतिकारी थे जिनका असली नाम था, नरेन्द्र नाथ भट्टाचार्य। उन्हें कानपुर वोल्शेविक षड्यंत्र केस में 10 मई, 1924 को वारंट जारी किया गया। 21 जुलाई, 1931 को उन्हें गिरफ्तार कर 20 नवंबर, 1936 तक एक जेल से दूसरी जेल में भेजा जाता रहा। श्री राय के संबंध में विलक्षण बात यह है कि उन्हें कानपुर की सेशन कोर्ट में अपना बचाव नहीं करने दिया गया जहां इन पर मुकदमा चलाया गया था। इनमें कुछ को खतरनाक कैदी समझ कर विदेशों में ब्रिटिश सरकार ने अपनी जेलों में रखा। जिससे देशवासियों के साथ कोई संपर्क ही न रहे।

अदन की जेल के अलावा ये जेलें थीं—बरमा (अब म्यांमार) में स्थित मांडला की सेंट्रल जेल और अंडमान द्वीप स्थित सेलुलर जेल। इन जेलों में से अंडमान की सेलुलर जेल मानसिक यंत्रणाओं के साथ साथ शारीरिक यंत्रणाओं के लिए कुख्यात रही। इस जेल में वीर सावरकर और उनके बड़े भाई गणेश पंत (बाबा सावरकर) को आजीवन कैद की सजा देकर रखा गया। तीसरे भाई नारायण दामोदर सावरकर को 19 वर्ष की अवस्था में 11 वर्ष की लंबी सजा हुई। इस जेल में अपने परिवार वालों को वर्ष में केवल एक पत्र लिखने की छूट थी। 'वीर सावरकर ने कुल नौ पत्र लिखे। जिनमें से केवल आठ पत्र ही उपलब्ध हैं। उन्होंने अपने नाखूनों और पत्थर के टुकड़ों से लगभग 6,000 पंक्तियां अपनी कोठरी की दीवारों पर लिखीं जो उन्हें पूरी याद हो गईं। ये काव्य पंक्तियां जेल से छूटने के बाद प्रकाशित हुईं। उनमें अद्भुत मेधा शक्ति और शारीरिक बल था।

मांडले की सेंट्रल जेल का वर्णन सुभाष चन्द्र बोस ने एन. सी. केलकर को 25 अगस्त, 1925 को अपने पत्र में लिख कर

भेजने का प्रयास किया। यह पत्र सेंसर द्वारा रोक लिया गया। यह पत्र नेताजी रिसर्च ब्यूरो, कलकत्ता के प्रकाशनों में उपलब्ध है और इसका हिंदी अनुवाद यहां संकलित है। सुभाष चन्द्र बोस को 1925 में बरहमपुर जेल से यहां लाया गया था और वह यहां 1927 तक रहे। उनके पहले लाला लाजपत राय, अजीत सिंह और बाल गंगाधर तिलक इस जेल में रह चुके थे। श्री तिलक यहां 23 सितंबर, 1908 से 8 जून, 1914 तक रहे। उन्होंने यहीं पेंसिल से नौ सौ पृष्ठों में 'गीता-रहस्य' की रचना की और अपने परिवारवालों को कुल आठ पत्र लिखे। श्री तिलक, श्री सावरकर और श्री सुभाष चन्द्र बोस के पत्रों में देशभक्ति की ऊष्मा है, परिवार वालों से बिछुड़ने के आंसू नहीं हैं।

देश में स्वतंत्रता के लिए सशस्त्र क्रांति का क्या तात्पर्य है, इस पर बहस 'माडर्न रिव्यू' के संपादक रामानंद चट्टोपाध्याय ने सन 1929 में अपने एक संपादकीय में उठाई। उसका उत्तर देते हुए भगत सिंह ने 23 दिसंबर, 1929 को अपनी और अपने साथी बटुकेश्वर दत्त की ओर से श्री चट्टोपाध्याय को एक पत्र लिखा जिसका शीर्षक था—'इन्कलाब जिंदाबाद' क्या है ? यह पत्र लगभग वैसा ही है जैसा 7 जनवरी, 1931 को जवाहरलाल नेहरू ने अपनी बेटी इंदिरा नेहरू को नैनी जेल से लिखा था। कुछ ऐसी ही लिखा पढ़ी सुखदेव और गांधी जी के बीच हुई। यह 'हिंदी नवजीवन' में 30 अप्रैल, 1931 के अंक में प्रकाशित है।

हम सभी जानते हैं कि देश में इस सशस्त्र क्रांति से (घबराई हुई) ब्रिटिश सरकार को राहत देने और लिखा पढ़ी कर जनता के आक्रोश को लंदन स्थित सरकार तक व्यक्त करने के लिए इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना सन 1885 में हुई। जिसमें ए.ओ. ह्यूम

आदि का सहयोग था। बहुत कम लोग जानते हैं कि मुहम्मद अली जिन्ना ने लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के मुकदमे में उन्हें जमानत पर रिहा करने के लिए अदालत में अर्जी दी थी। जिन दिनों सन 1916 में लखनऊ (उ. प्र.) के कैसरबाग में कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था उन्हीं दिनों श्री जिन्ना ने मुस्लिम लीग के अधिवेशन में अध्यक्ष पद से कहा था कि आमतौर पर जो उसूल इंडियन नेशनल कांग्रेस के हैं वही इंडियन मुस्लिम लीग के भी हैं। इस समूचे मुल्क की भलाई के लिए वह हर काम में कांग्रेस के साथ रहेगी। इस संगठन अर्थात इंडियन नेशनल कांग्रेस में स्थापना के बाद 1907 के आते आते दो दल बन गए—नरम दल और गरम दल। गोपाल कृष्ण गोखले नरम दल और लोकमान्य बालगंगाधर तिलक गरम दल के नेता कहलाए। शायद यह तथ्य भी कम ही मालूम है कि श्री ह्यूम कांग्रेस को केवल सामाजिक सुधार की संस्था के रूप में विकसित करना चाहते थे। जबकि तत्कालीन वायसराय लार्ड डफरिन ने इसे राजनैतिक संस्था बनाने की सलाह दी थी। इन दोनों अर्थात श्री गोखले और श्री तिलक के निधन के बाद इस संस्था का नेतृत्व गांधी जी के हाथ में आ गया। इंडियन नेशनल कांग्रेस के दिसंबर 1920 के विशेष अधिवेशन में जो कलकत्ता में हुआ था, गांधी जी के असहयोग आंदोलन को अनुमोदित किया गया। अब ब्रिटिश सरकार सुधार के प्रस्तावों द्वारा जन जागृति को हल करना चाहने लगी। उसकी नीति दमनकारी न रह कर राजनैतिक दांवपेंच की नीति हो गई। अर्थात फूट डालो और राज करो। गोलमेज कांफ्रेंसों का युग शुरू हो गया। गांधी जी स्वदेशी आंदोलन और असहयोग आंदोलन को देश के कोने कोने तक ले गए। भीड़ की भीड़ जेलों के लिए उमड़

पड़ी। लेकिन उसके नेताओं को शारीरिक यंत्रणा के बजाय मानसिक यंत्रणा देना जारी रहा। जैसे वल्लभभाई पटेल को उनके बड़े भाई विट्ठलभाई पटेल के निधन पर स्वतः छोड़ने पर विचार न कर उनके आवेदन की प्रतीक्षा करना। कुल मिलाकर अब राजनैतिक कैदियों को मेल-मुलाकात और लिखने पढ़ने की सुविधाएं देना शुरू हो गया। जेलों में इस प्रकार विपुल रचनात्मक साहित्य लिखा गया। जिसका बीज-रोपन लोकमान्य श्री तिलक पहले ही कर चुके थे। 'गीता-रहस्य' द्वारा श्री तिलक ने फल की कामना किए बिना कर्म करने की शिक्षा दी। श्री नेहरू ने अपनी बेटी इंदिरा नेहरू को नियमित पत्र लिखे जो 'विश्व इतिहास की झलक' नाम से प्रसिद्ध हुए। लाल बहादुर शास्त्री ने श्रीमती क्यूरी की अंग्रेजी में लिखी जीवनी का अनुवाद किया। डा. राजेन्द्र प्रसाद ने 'आत्मकथा' लिखकर मानो देश में कांग्रेस आंदोलन का इतिहास लिख डाला। 'यंग इंडिया' में गांधी जी के प्रकाशित 'जेल के अनुभव' से सत्याग्रहियों के आदर्श पर भरपूर प्रकाश पड़ता है।

इस छोटी-सी पुस्तिका में देश के स्वतंत्रता आंदोलन के सभी प्रमुख नेताओं, क्रांतिकारियों द्वारा लिखे गए पत्रों और लेखों की झांकी तक देना एक टेढ़ी खीर है। क्योंकि उनकी सूची भी इतनी लंबी है कि उसके लिए स्थान का अभाव खलने लगता है। यदि इस संकलन से आज की पीढ़ी के मन में अपनी विरासत के प्रति थोड़ी-सी भी श्रद्धा उत्पन्न हो सकी तो श्रम को सफल हुआ समझूंगा।

—देवेश चन्द्र

जेल के अनुभव

–महात्मा गांधी

1. कुछ भयंकर परिणाम

इस अध्याय में मैं अधिकारियों की इस धारणा का विवेचन करना चाहता हूं कि उनका कर्तव्य कैदियों के स्वास्थ्य की देखभाल करने और उन्हें आपस में लड़ने या भाग जाने से रोकने तक ही सीमित है। मेरे खयाल से यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि जेलें मवेशीखाने ही हैं जिनका प्रबंध अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। जो अधीक्षक कैदियों के लिए अच्छे भोजन की व्यवस्था कर देता है और बिना कारण दंड नहीं देता वह सरकार द्वारा और कैदियों द्वारा भी आदर्श अधीक्षक माना जाता है। दोनों ही पक्ष इससे अधिक की अपेक्षा नहीं करते। यदि कोई अधीक्षक कैदियों के प्रति किए जानेवाले व्यवहार में वस्तुतः मानवीय भावना को दाखिल करने लगे, तो बहुत संभव है कि कैदियों को कोई गलतफहमी हो जाए और सरकार भी उसके कार्य को बुरा नहीं तो कम-से-कम अव्यावहारिक मानकर उसका अविश्वास करने लगे।

अतः कारागार चारित्रिक पतन के और दुर्व्यसनों के पनपने के अड्डे हो गए हैं। उनमें रहते हुए कैदी सुधरता नहीं है। उनमें से अधिकांश तो पहले से भी बुरे हो जाते हैं। संसार की जनता द्वारा सर्वाधिक उपेक्षित संस्था कदाचित कारागार ही है। नतीजा

यह है कि उनकी व्यवस्था पर जनता का नियंत्रण एक तो होता ही नहीं है और यदि होता भी है तो बहुत कम। जब थोड़ी-बहुत ख्याति प्राप्त कोई राजनैतिक बंदी कारागार में पहुंचता है तब जनता में यह जानने की उत्सुकता पैदा हो जाती है कि दीवारों के उस पार भीतर क्या हो रहा है।

कैदियों का जो वर्गीकरण है, उसमें कैदियों के हित की अपेक्षा प्रशासन के हित का अधिक ख्याल रखा जाता है। उदाहरणार्थ, हम देखते हैं कि पक्के अपराधी तथा ऐसे मनुष्य जिन्होंने कोई नैतिक नहीं, केवल मामूली कानून-भंग का अपराध किया है, एक ही अहाते, एक हर खंड, यहां तक कि एक ही कोठरी में साथ साथ रखे जाते हैं। भिन्न भिन्न प्रकार के चालीस या पचास कैदी लगातार महीनों एक ही कोठरी में बंद किए जाते हैं—आप जरा इस स्थिति की कल्पना तो करें। एक शिक्षित मनुष्य, जो मुहर लगे हुए टिकट का उपयोग करने पर शासकीय दृष्टि से स्टाम्प अधिनियम के अंतर्गत दंडित किया गया था, उसी ब्लॉक में रखा गया था जिसमें खतरनाक माने जानेवाले पक्के अपराधी रखे गए थे। खूनियों, अपहरणकर्ताओं, चोरों और मामूली कानून-भंग के अपराधियों का एक ही जगह ठूंस दिया जाना भी रोज की बात नहीं है। कई काम ऐसे हैं जिन्हें करने के लिए कई आदमी जरूरी होते हैं, जैसे रहट खींचना। ऐसे कामों में हट्टे-कट्टे आदमी ही लगाए जा सकते हैं। एक बार कुछ अत्यंत भावुक व्यक्ति एक ऐसी टुकड़ी में रख दिए गए जिस टुकड़ी के अधिकांश कैदी ऐसी अशिष्ट भाषा का व्यवहार करते रहते थे, जिसे कोई भला आदमी सुन भी नहीं सकता। जो लोग अश्लील भाषा का प्रयोग करते हैं, उन्हें उसमें कोई अश्लीलता नहीं लगती। किंतु

ऐसी भाषा जब किसी भावुक व्यक्ति के सम्मुख प्रयुक्त की ज़ाती है, तब वह उसे बहुत अखरती है। ये टुकड़ियां कैदी वार्डरों के अधीन काम करती हैं। ये कैदी वार्डर काम लेते समय कैदियों को भद्दी से भद्दी गालियां देते हैं। और काफी क्रुद्ध हो जानेपर तो वे डंडे का उपयोग करने से भी नहीं चूकते। यह कहना अनावश्यक है कि ये दोनों बातें अनधिकृत ही नहीं गैरकानूनी भी हैं। किंतु मैं ऐसी गैरकानूनी बातों की खासी बड़ी सूची प्रस्तुत कर सकता हूं, जो कारागारों में अधिकारियों की जानकारी में और कभी कभी उनके संकेत से भी होती हैं। मैंने ऊपर जिस भावुक कैदी का उल्लेख किया है वह गंदी भाषा को बरदाश्त नहीं कर सका। अतः उसने वैसी भाषा का प्रयोग बंद न किए जाने तक उस टुकड़ी में काम करने से इनकार कर दिया। मेजर जोन्स के तत्काल हस्तक्षेप करने से वह विषम स्थिति टली, किंतु यह राहत क्षणिक ही सिद्ध हुई। ऐसी घटना को फिर घटित न होने देने की शक्ति मेजर जोन्स में नहीं थी; क्योंकि जब तक कैदियों का वर्गीकरण किसी नैतिक मानदंड के अनुसार तथा प्रशासकीय सुविधा की अपेक्षा उनकी मानवीय आवश्यकताओं के ख्याल से नहीं होता, तब तक ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति कदापि नहीं रोकी जा सकती।

हमारा ख्याल था कारागार में, जहां प्रत्येक कैदी दिन-रात निगरानी में रहता है और जहां वह वार्डर की निगाह से कभी ओझल नहीं हो पाता, अपराध संभव नहीं होते होंगे। किंतु दुर्भाग्यवश वहां सभी तरह के नैतिक अपराध किए जाते हैं—इतना ही नहीं वे निःशंक होकर किए जाते हैं। छोटी-मोटी चोरियों, धोखेबाजियों और मामूली मारपीट अथवा संगीन हमलों का उल्लेख मैं नहीं करूंगा। किंतु मैं यह अवश्य कहना चाहता हूं कि

वहां अप्राकृतिक अपराध तक होते हैं। मैं इसका ब्यौरा देकर पाठकों को व्यथित नहीं करना चाहता। कारावास के अपने अनेक अनुभवों के बावजूद मेरा खयाल यह नहीं था कि कारागारों में ऐसे अपराध भी होते होंगे। किंतु यरवदा जेल में एकाधिक बार ऐसे मामले सामने आए जिनके कारण मुझे बड़ा आघात लगा। बल्कि अप्राकृतिक अपराधों के होते रहने की बात जानकर तो मुझे सबसे बड़ा आघात पहुंचा था। जिन अधिकारियों ने मुझसे इनके बारे में बात की उन सबने यही कहा कि वर्तमान प्रणाली में इन अपराधों को रोकना असंभव है। जिस व्यक्ति को इस अपराध का शिकार बनना पड़ता है प्रायः इसमें उसकी सहमति नहीं होती। मैं विचारपूर्वक कहता हूं कि ऐसे अपराधों को रोकना संभव है, बशर्ते कि कारागारों के प्रशासन में मानवीयता का समावेश किया जाए, और उसे सर्वसाधारण की चिंता का विषय बनाया जा सके। भारत के कारागारों में कैदियों की संख्या कई लाख अवश्य होगी। सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को इस बात की फिक्र होनी चाहिए कि उनपर क्या बीतती है। आखिर दंड का उद्देश्य सुधार है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि विधानमंडल, न्यायाधीश और कारावास के अधीक्षक आदि यह अपेक्षा करते हैं कि सजाओं से अपराधों की प्रवृत्ति घटेगी और ऐसा उससे केवल शरीर और मन को होनेवाले कष्ट के फलस्वरूप नहीं होगा बल्कि उस पश्चाताप के फलस्वरूप भी होगा जो दीर्घकाल तक एकांत पाकर आवश्यक रूप से उत्पन्न होता है। किंतु तथ्य यह है कि सजाओं से कैदी और भी पशु-तुल्य बन जाते हैं। कारागारों में उन्हें कभी पश्चाताप करने अथवा सुधरने का अवसर नहीं मिलता। सहृदयता का वहां अभाव है। यह ठीक है कि प्रति सप्ताह वहां धार्मिक उपदेशक

जाते हैं। मुझे इन सभाओं में से किसी में भी भाग लेने की अनुमति नहीं दी गई; किंतु मैं जानता हूं कि यह बहुधा ढकोसला भर होता है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि उपदेशक ढोंगी होते हैं। किंतु सप्ताह में एक बार कुछ मिनटों की धार्मिक चर्चा का उन लोगों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, जिन्हें साधारणता अपराध करने में कोई बुराई नहीं दिखाई देती। आवश्यक यह है कि ऐसे सहानुभूतिपूर्ण वातावरण का निर्माण किया जाए, जिसमें कैदी अनजाने ही बुरी आदतें छोड़ें और अच्छी आदतें सीखें।

किंतु जब तक कैदियों को बहुत अधिक उत्तरदायित्व के कार्य सौंपने की प्रथा कायम है, तब तक ऐसा वातावरण उत्पन्न होना असंभव है। इस पद्धति का बदतर भाग है कैदियों को अधिकारियों की तरह नियुक्त करना। बहुत लंबी सजा पाए हुए कैदी ही ऐसे पदों पर नियुक्त होते हैं। अतः ये ऐसे ही लोग होते हैं जिन्हें किसी अत्यंत गंभीर अपराध करने पर सजा दी गई होती है। बहुधा क्रूर स्वभाव वाले कैदी वार्डर बनाए जाते हैं। वे अत्यंत ढीठ होते हैं ओर आगे आने में सफल हो जाते हैं। कारागारों में जितने भी अपराध होते हैं लगभग उन सभी में इनका हाथ होता है। ऐसे ही दो वार्डरों में एक बार सबके देखते लड़ाई हुई और उनमें से एक व्यक्ति मारा गया। लड़ाई का कारण यह था कि एक ही कैदी उन दोनों की अप्राकृतिक कामवासना का शिकार था। सभी जानते थे कि जेल में क्या चल रहा है, किंतु अधिकारी केवल इतना ही हस्तक्षेप करते रहे जितने से लड़ाई अथवा खून-खराबी भर रुकी रहे। ये कैदी अधिकारी ही दूसरे कैदियों को किस काम पर लगाया जाए इसकी सिफारिश करते हैं। ये ही उनके काम की देखरेख भी करते हैं। वे अपने अधीन कैदियों के सद्व्यवहार के लिए भी

उत्तरदायी होते हैं। वास्तव में स्थायी अधिकारी जो कुछ कहना या करना चाहते हैं वह इन्हीं कैदियों के माध्यम से कहा और कराया जाता है, जिन्हें अधिकारी की प्रतिष्ठा सौंप दी गई होती है। मुझे आश्चर्य इस बात पर है कि ऐसी प्रथा के अंतर्गत वास्तव में जितनी बुरी हालत अब है उससे भी ज्यादा बुरी क्यों नहीं हुई। इससे मेरे समक्ष यह बात और प्रत्यक्ष हो गई कि मानव किस प्रकार एक दूषित सामाजिक व्यवस्था की अपेक्षा उच्चतर पाया जाता है और एक अच्छी समाज व्यवस्था की अपेक्षा निम्नतर। लगता है, मनुष्य स्वभाव से ही मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है।

रसोई बनाने का सारा काम भी कैदियों को सौंप दिया जाता है। नतीजा यह होता कि एक तो भोजन लापरवाही के साथ बनाया जाता है और सधा-सधाया पक्षपात चलता है। कैदी ही आटा पीसते हैं, साग भाजी काटते हैं, भोजन बनाते हैं और परोसते हैं। जब जब खाना कम और खराब होने की शिकायत की गई, तो सदा एक ही उत्तर मिला, इसका उपाय कैदियों के ही हाथों में है, क्योंकि वे अपना भोजन आप ही बनाते हैं; मानो वे सब एक-दूसरे के सगे हों और पारस्परिक उत्तरदायित्व को समझते हों। एक बार जब मैंने तर्क के सहारे किसी उचित निष्कर्ष तक पहुंचने का आग्रह किया तब मुझसे यह कहा गया कि कोई भी शासन इतना खर्च बरदाश्त नहीं कर सकता। उस समय भी मैंने इसे ठीक नहीं माना और अधिक गौर करने पर मेरा यह विचार पुष्ट ही हुआ है कि यदि व्यवस्थित रूप से काम किया जाए तो कारागारों का प्रशासन आत्मनिर्भर बनाया जा सकता है। मैं एक अलग अध्याय में कारागारों की आर्थिक व्यवस्था के विवेचन की बात सोच रहा हूं। फिलहाल मुझे यही कहकर संतोष करना
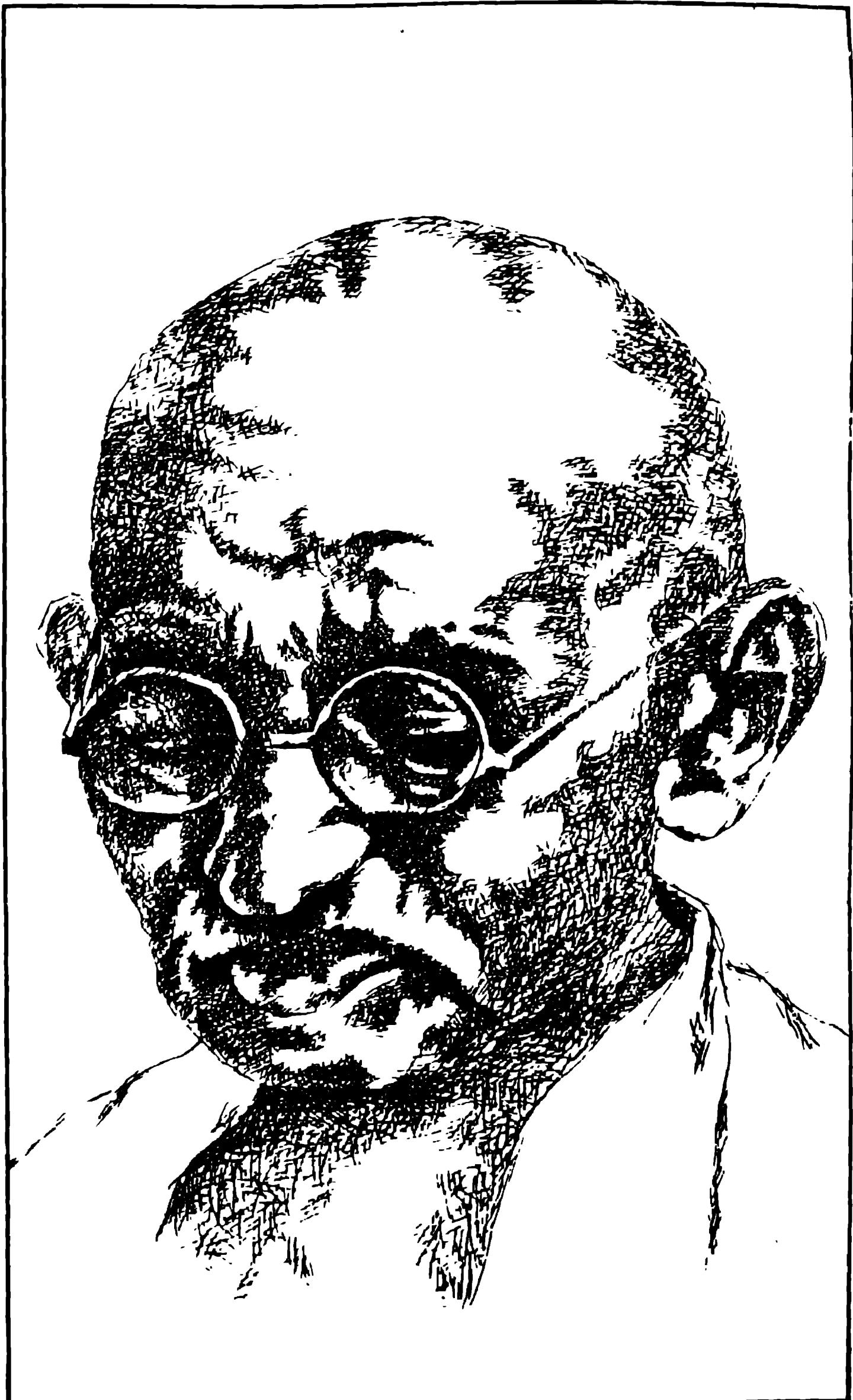
मोहनदास करमचंद गांधी

होगा कि नैतिक दुराचारों का विचार करने में खर्च का प्रश्न संगत नहीं माना जा सकता।

[अंग्रेजी से]

यंग इंडिया 1-5-1924

2. 'राजनीतिक' कैदी

"हम राजनीतिक तथा अन्य कैदियों में कोई भेद नहीं करते। आपके लिए ऐसा कोई भेद किया जाए, यह तो निस्संदेह आप भी नहीं चाहेंगे ?" जब गत वर्ष के अंत में सर जॉर्ज लॉयड यरवदा जेल आए थे; ये वाक्य उन्होंने तभी कहे थे। मेरे मुंह से असावधानी से यह 'राजनीतिक' विशेषण निकल गया, उसी के उत्तर में वे इस प्रकार बोले थे। मुझे अधिक सावधानी से काम लेना चाहिए था, क्योंकि मैं जानता था कि गवर्नर महोदय को इस शब्द से चिढ़ है। फिर भी, अजीब बात है कि हममें से अधिकांश कैदियों के दैनिक व्यवहार के टिकटों पर 'राजनीतिक' शब्द अंकित था। जब मैंने इस असंगति की चर्चा की तो उस समय के जेल सुपरिंटेंडेंट ने बताया कि यह तो एक खानगी चीज है और केवल अधिकारियों की सुविधा के लिए है। आप कैदियों को इस भेद पर विचार करने की जरूरत नहीं; क्योंकि इसके आधार पर कोई हक नहीं मांगा जा सकता।

सर जॉर्ज लॉयड की कही हुई बात को मैंने अपनी स्मृति के अनुसार तो शब्दशः ही दिया है। सर जॉर्ज लॉयड ने जो कुछ कहा था उसमें एक दंश था, और वह भी कितना अहेतुक। वे जानते थे कि मैं किसी मेहरबानी या विशिष्ट व्यवहार की याचना नहीं

कर रहा था। प्रसंगवश इस विषय में साधारण-सी चर्चा निकल आई थी। लेकिन वे मुझे यह जताना चाहते थे कि कानून और प्रशासन की दृष्टि में तुम्हारी स्थिति औरों की स्थिति से किसी भी तरह बढ़कर नहीं है। और अकारण ही, सिद्धांत के नाम पर इस भेद का प्रतिवाद किया जाना और दूसरी ओर व्यवहार में इस भेद को अमली जामा पहनाना एक शोचनीय असंगति तो थी ही और तिसपर अधिकांश अवसरों पर इस भेद का प्रयोग राजनीतिक कैदियों के विरुद्ध ही किया जाता था।

सच तो यह है कि भेद से बचना असंभव है। यदि इस तथ्य की उपेक्षा न की जाए कि कैदी भी मनुष्य ही है, तो उसके रहन-सहन को समझना और तदनुसार जेलों में उसकी व्यवस्था करना जरूरी होगा। यहां सवाल गरीब और अमीर अथवा शिक्षित और अशिक्षित में भेद करने का नहीं है। कुल सवाल उनके रहन-सहन के उन तौर-तरीकों में भेद करने का है, जिनके कि वे अपनी पूर्व परिस्थितियों के कारण आदी हो गए हैं। इस वस्तुस्थिति को अनिवार्य रूप से मान लेने की बजाय ऐसा कहा जाता है कि अपराध करनेवाले लोगों को यह समझ लेना चाहिए कि कानून किसी का लिहाज नहीं करता और चाहे कोई अमीर आदमी चोरी करे या कोई ग्रेजुएट या मजदूर, कानूनी दृष्टि में सब समान हैं। यह तो एक निर्दोष और अच्छे कानून का गलत अर्थ लगाना है। यदि कानून की दृष्टि में सभी समान हैं, जैसा कि होना भी चाहिए, तो हर आदमी के साथ उसकी सहनशक्ति को देखकर बरताव किया जाना चाहिए। जिस चोर का शरीर नाजुक हो उसे भी 30 कोड़े लगाना और जो शरीर से हट्टा-कट्टा हो उसे भी 30 कोड़े लगाना, निष्पक्ष व्यवहार नहीं माना जाएगा। वह तो नाजुक

शरीरवाले के साथ अनुचित सख्ती और शायद हट्टे-कट्टे शरीरवाले के प्रति अनुग्रह ही किया जाएगा। उसी तरह, उदाहरण के तौर पर, मोतीलाल जी को सख्त जमीन पर बिछी नारियल की खुरदरी चटाई पर सुलाना, समान व्यवहार का नहीं अतिरिक्त सजा देने का उदाहरण होगा।

जेल की व्यवस्था में यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि कैदी भी मनुष्य ही है, तो कैदी को जेल में प्रवेश कराने के समय की प्रक्रिया आज से भिन्न हो। अंगुलियों के निशान जरूर लिए जाएंगे; रजिस्टर में उसके पहले के अपराध भी दर्ज किए ही जाएंगे; लेकिन साथ ही कैदी की आदतों और रहन-सहन का ब्यौरा भी दर्ज किया जाएगा। यदि अधिकारी कैदियों को मनुष्य समझने लगें तो उन्हें जो पद्धति स्वीकार करनी होगी उसे 'भेद करना' न कहकर 'वर्गीकरण' ही कहा जाएगा। इस प्रकार का वर्गीकरण तो आज भी मौजूद है। उदाहरण के लिए, कुछ अहातों में कैदियों को लंबी कोठरियों में इकट्ठा रखा जाता है। खतरनाक अपराधियों के लिए अलग अलग कोठरियां होती हैं और तनहाई की सजावालों को ताला लगाकर अलग अलग रखा जाता है। फिर, फांसीवालों की कोठरियां भी होती हैं, जिनमें फांसी की सजा सुनाए गए कैदियों को रखा जाता है और अंत में हवालाती कैदियों के लिए अलग कोठरियां होती हैं। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि ज्यादातर राजनीतिक कैदियों को अलग या तनहाई में रखा जाता था। कुछ को तो फांसी की सजा पाए हुए अपराधियों की कोठरियों में भी रखा जाता था। लेकिन यहां मैं एक बात साफ कर देना चाहूंगा, अन्यथा अधिकारियों के साथ कहीं अन्याय न हो जाए। वह बात यह है कि जिन्हें इन विभागों और कोठरियों

की जानकारी नहीं है, वे ऐसा सोच सकते हैं कि फांसी की सजा सुनाए गए कैदियों की कोठरियां खासतौर पर कुछ खराब होती होंगी, लेकिन वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। जहां तक यरवदा जेल का संबंध है, इन कोठरियों की बनावट बहुत अच्छी है और ये हवादार हैं। लेकिन जो चीज बहुत आपत्तिजनक है वह है इनके इर्द-गिर्द का वातावरण।

जैसा मैंने ऊपर बताया, वर्गीकरण अनिवार्य है और वह किया भी जाता है। फिर कोई कारण नहीं कि वह वैज्ञानिक और मानवतापूर्ण भी क्यों न हो। मैं जानता हूं कि मेरे सुझाए हुए ढंग से वर्गीकरण करने का मतलब है सारी पद्धति में आमूलचूल परिवर्तन। बेशक, इसमें खर्च ज्यादा होगा और नई पद्धति को चलाने के लिए दूसरे ढंग के लोगों की भी जरूरत होगी। लेकिन आज अतिरिक्त खर्च होगा तो अंत में बचत भी होगी। मैं जो क्रांतिकारी परिवर्तन सुझा रहा हूं उसका सबसे बड़ा लाभ तो यह होगा कि अपराधों की संख्या में निश्चित रूप से कमी आ जाएगी और कैदियों का सुधार होगा। फिर तो जेल सुधार-गृह हो जाएंगे और समाज में पाप करने वाले लोग उन स्थानों में जाकर सुधर जाएंगे और लौटकर आने पर समाज के प्रतिष्ठित सदस्य बन जाएंगे। हो सकता है, वह दिन बहुत दूर हो; लेकिन अगर हम पुरानी रूढ़ियों के मोह में न पड़ गए हों तो जेलों को सुधार-गृह बनाने में हमें कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

यहां मुझे एक जेलर के सारगर्भित वचन याद आते हैं। उसने कहा था :

"जब कभी मैं कैदियों को भरती करता हूं या उनकी तलाशी लेता हूं अथवा उनके बारे में रिपोर्ट करता हूं, मेरे मन में

अकसर एक सवाल उठता है; क्या मैं इनमें से ज्यादातर लोगों से अच्छा हूं ? ईश्वर जानता है कि इनमें से कुछ जिन अपराधों के कारण यहां आए हैं, उनसे बुरे अपराध तो मैंने किए हैं। फर्क इतना ही है कि इन बेचारों के अपराध का पता लग गया और मेरे अपराध का पता नहीं लग पाया।"

जो बात इस नेक जेलर ने स्वीकार की, क्या वही हममें से बहुतों के साथ लागू नहीं होती ? समाज उनपर तो अंगुली नहीं उठाता। लेकिन हमें तो, जिन लोगों में बच निकलने की चतुराई नहीं है, उनके प्रति सदा शंकित बने रहने की आदत पड़ गई है। कारावास के परिणामस्वरूप अकसर वे पक्के अपराधी बन जाते हैं।

कोई भी व्यक्ति पकड़ा गया कि उसके साथ पशुओं का-सा व्यवहार शुरू हो जाता है। अभियुक्त जब तक अपराधी न सिद्ध कर दिया जाए तब तक सिद्धांततः उसे निर्दोष माना जाता है। लेकिन व्यवहार में उसकी देख-रेख के लिए जिम्मेदार लोगों का रवैया दंभपूर्ण और तिरस्कार-भरा होता है। मनुष्य अपराधी करार दिया गया कि वह समाज का अंग रह ही नहीं जाता। जेल का वातावरण उसमें अपने-आपको हीन मानने की आदत पैदा कर देता है।

राजनीतिक कैदियों पर इस निर्वीर्य बनाने वाले वातावरण का असर आमतौर पर नहीं होता। मन को खिन्न बना देनेवाले इस वातावरण के असर में आने की बजाय वे उसके खिलाफ संघर्ष करते हैं और कुछ अंशों में उसे सुधार भी पाते हैं। समाज भी उन्हें अपराधी नहीं मानता। इसके विपरीत, वे वीर पुरुष और शहीद माने जाते हैं। जेल में उन्हें जो कष्ट भोगना पड़ता है,

उसका बखान लोग बहुत बढ़ा-चढ़ाकर करते हैं और कभी कभी यह अति प्रशंसा राजनीतिक कैदियों के नैतिक पतन का भी कारण बन जाती है। लेकिन दुर्भाग्य की बात यह है कि राजनीतिक कैदियों के प्रति आम लोग जितनी उदारता दिखाते हैं, अधिकारीगण उतनी ही सख्ती बरतते हैं; अधिकांश मामलों में वह सख्ती बिलकुल बेजान हुआ करती है। सरकार राजनीतिक कैदियों को साधारण कैदियों से अधिक खतरनाक मानती है। एक अधिकारी ने बड़ी गंभीरता से कहा था कि राजनीतिक कैदी के अपराध से पूरे समाज को खतरा रहता है, जब कि साधारण अपराध से केवल अपराधी का ही नुकसान होता है।

एक दूसरे अधिकरी ने मुझे बताया कि राजनीतिक कैदियों को अलग रखने और पत्र-पत्रिकाएं न देने का कारण यह है कि उन्हें अपने अपराध का एहसास कराया जाए। उसने कहा, राजनीतिक कैदी 'कैद' में गौरव का अनुभव करते हैं। स्वतंत्रता खो जाने से जहां साधारण अपराधियों को दुख होता है, राजनीतिक अपराधियों पर उसका कोई असर ही नहीं होता। उसने आगे कहा कि इसलिए यह स्वाभाविक है कि सरकार उन्हें सजा देने का कोई और उपाय करे; इसीलिए उन्हें साधारणतया जो सुविधाएं बेशक मिलनी चाहिए, वे नहीं दी जातीं। मैंने 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के साप्ताहिक अंक, या 'इंडियन सोशल रिफॉर्मर' या 'सर्वेंट ऑफ इंडिया' अथवा 'मॉडर्न रिव्यू' या 'इंडियन रिव्यू' की मांग की थी। अधिकारी ने उसी के जवाब में यह बात कही थी। जो लोग अखबारों को नाश्ते की ही तरह जरूरी मानते हैं, उनके लिए यह बहुत कड़ी सजा थी। पाठक इसे मामूली सजा न समझें। मैं तो कहूंगा कि अगर श्री मजली को समाचारपत्र दिए

गए होते तो उनके मस्तिष्क में खराबी पैदा न होती। इसी तरह उस आदमी के लिए जो अपने को हर अवसर पर सुधारक नहीं मानता यह बहुत उद्वेगजनक सिद्ध होगा कि उसे खतरनाक अपराधियों के साथ रख दिया जाए, जैसा कि यरवदा जेल में लगभग सभी राजनीतिक कैदियों के साथ किया जा रहा था। जो लोग सिवा गाली के बात नहीं करते या जिनकी बातचीत आमतौर पर अशिष्टतापूर्ण होती है, उनके साथ रह सकना आसान काम नहीं है। यदि सरकार अक्ल से काम लेकर साधारण कैदियों पर अच्छा असर डालने के लिए राजनीतिक कैदियों के साथ सलाह-मशविरा करके उन्हें ऐसे वातावरण में रखती तो यह बात समझ में आ सकती थी। लेकिन मैं मानता हूं कि यह बात व्यावहारिक नहीं है। मैं यह कहना चाहता हूं कि राजनीतिक कैदियों को अरुचिकर वातावरण में रखना उन्हें अतिरिक्त सजा देना है, जिसके वे कदापि पात्र नहीं हैं। उन्हें अलग रखा जाना चाहिए और वे किस तरह रहते आए हैं, यह समझकर उनके साथ तदनुसार बरताव करना चाहिए।

आशा है, सत्याग्रही लोग इसका और अगले अन्य किसी प्रकरण में मैंने जेल के सुधार की जो हिमायत की है, उसका गलत अर्थ नहीं लगायेंगे। सत्याग्रहियों को चाहे जैसी असुविधाएं सहनी पड़ें, उनका इस कारण रोष करना शोभा नहीं देगा। वह तो क्रूर से क्रूर व्यवहार के लिए तैयार होकर ही आया है; इसलिए यदि व्यवहार भलमनसी का किया जाए तो ठीक है; यदि न किया जाए तो भी ठीक ही है।

[अंग्रेजी से]

यंग इंडिया, 8-5-1924

वल्लभभाई के पत्र

1. बापू, अब आप जल्दी स्वस्थ हो जाइए

यरवदा मंदिर,
5-6-1933

पूज्य बापू,

लगभग एक महीने के बाद आपके हस्ताक्षर के दर्शन हुए। हमें बहुत आनंद हुआ। हम दोनों मजे में हैं। चिंता तो मैं क्या करता और मेरी चिंता किस काम की ? आपकी चिंता करनेवाला ईश्वर है न ?

हाथ से पत्र लिखने की जल्दी मत कीजिए। पूरी शक्ति आने दीजिए। तब तक महादेव से लिखवाइए और आप केवल हस्ताक्षर करते रहिए। इतना काफी होगा।

आश्रम के बारे में जो कुछ भी जानना हो, उसे जानने के लिए नारणदास को बुला लीजिए। आप वहां जाने का विचार मत कीजिए। मेरी यह निश्चित राय है कि नारणदास अपने साथ जिनको लाना चाहें, उनको लाएं, लेकिन आपको वहां बुलवाने का आग्रह न करें। आश्रम में जो भी परिवर्तन करना आवश्यक मालूम हो, सो जमनालाल जी को भेजकर करवाया जा सकता है। लेकिन यह बिलकुल इष्ट नहीं है कि आप इस समय इस काम के लिए

वहां जाएं। वहां लोगों के दल-के-दल पहुंचेंगे। वे आपके सामने कई तरह की बातें रखेंगे और आपको थोड़ा भी आराम नहीं करने देंगे। नारणदास इन सब बातों का विचार नहीं कर सकते, क्योंकि उनके सामने यह चित्र खड़ा नहीं हो सकता। इसलिए वे आपको बुलाना चाहते हैं। लेकिन अगर वे सही वस्तुस्थिति को समझ जाएं, तो हरगिज न बुलाएं।

मेरे लिए आम क्यों भेजे ? आज आप प्यार-दुलार करते हैं, और कल क्या करेंगे, सो कौन जाने ? आपकी दया में और अहिंसा में जो निर्दयता और हिंसा भरी पड़ी है, उसे तो 'जेने रामबाण वाग्यां होय ते जाणे,' (यानी जिसे राम के बाण लगे हों, वही जाने)। मेरी बात न मानें, तो बा को पूछ लीजिए। वे मेरी बात से अवश्य सहमत होंगी।

जल्दी स्वस्थ हो जाइए। रामदास को संभालिए। उसका शरीर अभी पुष्ट नहीं हुआ है। छगनलाल (जोशी) प्रणाम लिखवा रहे हैं।

वल्लभभाई के
सादर दंडवत प्रणाम

महात्मा गांधी,
पूना

2. नाथ बिन बिगड़ी कौन सुधारे ?

सेंट्रल प्रिजन,
नासिक रोड,
1-2-1934

प्रिय स्वामी आनन्द,

तुझे तो अचानक भागना पड़ा। जब डाह्याभाई मिलने आए, तो पता चला।

वहां के समाचार जानने के लिए प्राण बेचैन हैं। बिहार की खबर सुनने के बाद इन दो वर्षों में जेल पहली बार कठोर मालूम हुई। बस, मैं उसी दिन से बेचैन हूं। काम हो रहा है, पैसे जमा हो रहे हैं, पर मेरा मन बिलकुल नहीं माना। इस बार फिर अच्छी तरह अपना सिक्का जमाने का अवसर आया था। मैं सोचता हूं कि हमारा जैसा उपयोग होना चाहिए था वैसा नहीं हो पाया। लेकिन क्या करूं ? लाचार बनकर पड़ा हूं। राजेन्द्रबाबू तो बेचारे ऐसे हैं कि मरनेवाले को 'मर' भी नहीं कह सकते। लोग बहुत भले और अतिशय नम्र हैं। कुशलता कम है। किंतु बापू ने आप सब लोगों को भेजा और जवाहर भी वहां पहुंचा, तो फिर ऐसी धूम क्यों नहीं मचाई कि जिससे सारा देश सुलग उठता ? सब कुछ एक तरफ रखकर बिहार पर ही शक्ति खर्च करनी चाहिए थी। सिर्फ बापू को अनुमति देनी थी कि वे अपने रास्ते जाएं दूसरी सब बातों को एक ओर रखकर एक ही बात और एक ही काम की हवा खड़ी की जाती, तो बहुत कुछ हो सकता था। लेकिन मुझे लग रहा है कि 'नाथ बिन बिगड़ी कौन सुधारे ?' क्या करूं ? लाचार होकर पड़ा हूं।

फुरसत मिलने पर अपने विचार और काम के बारे में मुझे लिखते रहना। जानने की बड़ी इच्छा है। सरकार का काम तो खटारा गाड़ी की तरह चलता है। अभी तक लोग मलबे में दबे मुर्दों को भी नहीं निकाल सके हैं।

वहां रहते कहां हो ? कौन कौन हैं ? इन सब बातों के अलावा जनता की ओर से हो रहे कामों की भी कुछ जानकारी भेजना।

राजेन्द्रबाबू के क्या समाचार हैं ? उनकी तबीयत कैसी है ? प्रोफेसर (आचार्य कृपलानी) वहां जा पहुंचे हैं। वे क्या करते हैं ? उनसे कहना कि वे मुझे अपने कुछ समाचार भेजें। अपने बाढ़-संकट के दिनों की याद आती है। लेकिन वह तो बहुत छोटा सा खेल था। यह तो समुद्र को मथने का काम है।

बाबू 9 तारीख को बेलगांव जाने वाले हैं। उन्होंने महादेव और मणि से मिलने की अनुमति मांगी है।

वल्लभभाई के
वन्दे मातरम

स्वामी आनन्द,
कैंप : पटना

3. इस पुण्यभूमि में फिर रहने को मिला

यरवदा मंदिर,
18-12-1940

प्रिय भाई महादेव,

आज एक महीना पूरा हुआ। तुम एक महीने पहले मिल गए थे। पता नहीं चला कि साबरमती से लिखा मेरा पत्र तुम्हें मिला है या नहीं।...पहले तो पत्रों के मिलने में बहुत गड़बड़ हुआ करती थी। मानता हूं कि अब कुछ ठिकाना लगा होगा। आज भी हमारे पत्र 'डी.आई.जी., सी.आई.डी.' की मारफत ही आते हैं और जाते हैं। इसलिए देर होती है। लेकिन आशा है कि थोड़े समय में सब कुछ व्यवस्थित हो सकेगा।

आपके उस ऐतिहासिक पेड़ के नीचे, जहां बापू की खटिया लगती थी, वहीं खटिया डालकर पड़ा हूं। और उसकी बगल में रात में आकाश के नीचे लेटे लेटे तारे देखता रहता हूं। जहां बापू ने यरवदा मंदिर बनाया था, जहां उन्होंने अनशन किया था, और जहां 'पूना-पैक्ट' पर सही की थी, वहां आ कर पड़ा हूं। बापू की स्नान करने की जो कोठरी थी, वही कोठरी ली है। मुझे कभी सपने में भी ख्याल नहीं आया था कि मुझको फिर इस पुण्यभूमि में आकर रहना होगा। लेकिन ईश्वर की गति अटल है। यहां हम रात-दिन एक साथ रहे थे। उससे पुराने चित्र आंखों के सामने बार बार खड़े होते रहते हैं।

इस बार मंडली अलग प्रकार की है। इसलिए स्थिति ऐसी है कि जिसने उस रस का स्वाद चखा हो, वही उसे जाने। फिर भी यह समझकर काम चलाते हैं कि "तुलसी इस संसार में भांति

भांति के लोग, सबसे हिलमिल चालिए नदी नाव संजोग।"

यहां बालासाहब, मंगलदास और मैं, हम तीनों ने मिलकर नियमित रूप से कातने का 'क्लब' खोल लिया है। लेकिन अब उतनी कताई हो नहीं पाती, जितनी पिछली बार हुई थी, क्योंकि अब शरीर उतना काम करने से इनकार करता है। वैसे मैं यहां सबके खाने-पीने की पूरी देखरेख रखता हूं। हम आठ व्यक्ति इकट्ठा हुए हैं। इनमें छह बंबई के भूतपूर्व मंत्री हैं, एक कौंसिल के अध्यक्ष हैं और एक केंद्रीय विधानसभा के विरोध पक्ष के नेता (भूलाभाई देसाई) हैं। इतने यहां एक साथ रह रहे हैं, इस कारण हमारी दुनिया ठीक चल रही है।

ईश्वर कृपा से सबकी तबीयत अच्छी रहती है।

वल्लभभाई के

वन्दे मातरम

[श्री महादेव देसाई]

जवाहरलाल नेहरू

लखनऊ–जेल

1921 में हिंदुस्तान में राजनैतिक अपराधों के लिए जेल जाना कोई नई बात नहीं थी। खासकर बंग-भंग-आंदोलन के वक्त से बराबर ऐसे लोगों का तांता लगा रहा, जो जेल जाते थे और उनको अक्सर बड़ी लंबी लंबी सजाएं होती थीं। बगैर मुकदमे चलाए नजरबंदियां भी होती थीं। लोकमान्य तिलक को, जो अपने समय के हिंदुस्तान के सबसे बड़े नेता थे, उनकी ढलती हुई उम्र में छह साल कैद की सजा दी गई थी। पिछले महायुद्ध के कारण तो नजरबंदियों और जेल भेजने का यह सिलसिला और भी बढ़ गया और षड्यंत्रों के मामले बहुत होने लगे, जिनमें आमतौर पर मौत या आजीवन कैद की सजाएं दी जाती थीं। अली-बंधु और मौ. अबुलकलाम आजाद भी लड़ाई के जमाने में नजरबंद हुए थे। लड़ाई के बाद ही फौरन पंजाब में फौजी कानून जारी हुआ, जिसमें लोग बड़ी तादाद में जेल गए और बहुत लोगों को षड्यंत्र के या मुख्तसर मुकदमों में सजाएं दी गईं। इस तरह हिंदुस्तान में राजनैतिक सजा होना एक काफी आम बात हो गई थी, मगर अभी तक खुद जान-बूझकर कोई जेल न जाता था। लोग अपना काम करते थे और उस सिलसिले में उन्हें राजनैतिक सजा अपने-आप मिल जाती थी; या शायद इसलिए मिल जाती थी कि खुफिया

पुलिस उनको नापसंद करती थी; लेकिन, ऐसा होने पर, अदालत में पैरवी करके उससे बचने की पूरी कोशिश की जाती थी। हां, दक्षिण अफ्रीका में अलबत्ता सत्याग्रह की लड़ाई में गांधीजी और उनके हजारों अनुयायियों ने एक नई ही मिसाल पेश की थी।

मगर फिर भी 1921 में जेलखाना करीब करीब एक अज्ञात जगह थी, और बहुत कम लोग जानते थे कि नए सजायाफ्ता आदमियों को अपने अंदर निगल जानेवाले डरावने फाटक के भीतर क्या होता है ? अंदाज से हम कुछ कुछ ऐसा समझते थे कि जेल के अंदर बड़े बड़े खतरनाक जीव होंगे, जिनके लिए कुछ भी कर गुजरना बाएं हाथ का खेल होगा। हमारे खयाल से जेल एकांत, बेइज्जती और कष्टों की जगह थी, और सबसे बड़ी बात यह थी कि उसके साथ अनजान जगह होने का खौफ लगा हुआ था। 1920 से जेल जाने का बार बार जिक्र सुनते रहने और उसमें अपने कई साथियों के चले जाने से, हम इस खयाल के आदी हो गए, और उसके बारे में आशंका और अरुचि की जो भावना अक्सर अपने-आप पैदा हो जाती थी, उसकी तेजी कम हो गई। परंतु दिमागी तैयारी पहले से चाहे कितनी भी रही हो, जब हम लोहे के फाटक में पहले-पहल दाखिल हुए तो क्षोभ और उद्वेग पैदा हुए बिना नहीं रह सका। उस जमाने से; जिसे आज तेरह साल हो गए, आज तक मेरे अंदाज से हिंदुस्तान से कम-से-कम तीन लाख स्त्री-पुरुष उन फाटकों में राजनीतिक अपराधों के लिए दाखिल हो चुके हैं, हालांकि बहुत करके इलजाम फौजदारी आईन की किसी दूसरी ही दफा की रू से लगाया गया है। इनमें से हजारों तो कई बार अंदर गए और बाहर आए हैं। उन्हें यह अच्छी तरह मालूम हो ही जाता है कि अंदर वे किन बातों की उम्मीद रखें;

और जहां तक कोई आदमी विचित्र रूप से असाधारण, नीरस, उदासी के साथ कष्ट-सहन और एक ढर्रे की भयंकर जिंदगी के लायक अपने-आपको बना सकता है, वहां तक उन्होंने वहां की अजीब जिंदगी के मुआफिक अपने को बनाने की कोशिश की है। हम उसके आदी हो जाते हैं, क्योंकि इंसान करीब करीब हर बात का आदी हो जाता है, और फिर भी जब नई बार हम उस फाटक के अंदर दाखिल होते हैं तो फिर वही पुराने क्षोभ और उद्वेग की भावना आ जाती है और दिल उछलने लगता है और आंखें बरबस बाहर की हरियाली और चौड़े मैदानों, चलते-फिरते लोगों और गाड़ियों और जान-पहचानवालों के चेहरों की तरफ, जिन्हें अब बहुत अर्से तक देखने का मौका नहीं मिलेगा, आखिरी नजर डालने लगती हैं।

जेल की मेरी पहली मियाद के दिन, जो तीन महीने के बाद ही अचानक खत्म हो गए, मेरे और जेल-कर्मचारियों दोनों ही के लिए क्षोभ और बेचैनी के दिन थे। जेल के अफसर इन नई तरह के अपराधियों की आमद से घबरा-से गए थे। इन नए आनेवालों की महज तादाद ही, जो दिन-ब-दिन बढ़ती ही जाती थी, गैर-मामूली थी और उन्हें एक ऐसी बाढ़ मालूम होती थी, जो कहीं पुरानी कायम हदों को बहा न ले जाए। इससे भी ज्यादा चिंता की बात यह थी कि नए आनेवाले लोग बिल्कुल निराले ढंग के थे। यों आदमी तो सभी वर्ग के थे, मगर मध्यम वर्ग के बहुत ज्यादा थे। लेकिन इन सब वर्गों में एक बात सामान्य थी। वे मामूली सजायाफ्ता लोगों से बिल्कुल दूसरी तरह के थे और उनके साथ पुराने तरीके से बर्ताव नहीं किया जा सकता था। अधिकारियों ने यह बात मानी तो, मगर मौजूदा कायदों की जगह

दूसरे क़ायदे न थे; और न पहले की कोई मिसालें थीं, न कोई पहले का तजुरबा। मामूली कांग्रेसी कैदी न तो बहुत दब्बू था और न नरम। और जेल के अंदर होते हुए भी अपनी तादाद ज्यादा होने से उसमें यह खयाल भी आ गया था कि हममें कुछ ताकत है। बाहर के आंदोलन से और जेलखानों के अंदर के मामलों में जनता की नई दिलचस्पी पैदा हो जाने के कारण, वह और भी मजबूत हो गया था। इस प्रकार कुछ कुछ तेजरुख होते हुए भी हमारी सामान्य नीति जेल-अधिकारियों से सहयोग करने की थी। अगर हम लोग उनकी मदद न करते तो अफसरों की तकलीफें बहुत ज्यादा बढ़ गई होतीं। जेलर अक्सर हमारे पास आया करता था और कुछ बैरकों में, जिनमें हमारे स्वयंसेवक थे, चलकर उन्हें शांत करने या किसी बात के लिए राजी करने को कहता था।

हम अपनी खुशी से जेल आए थे और कई स्वयंसेवक तो प्रायः बिना बुलाए खुद जबरदस्ती भीतर घुस आए थे। इस तरह यह सवाल तो था ही नहीं कि कोई भाग जाने की कोशिश करता। अगर कोई बाहर जाना चाहता तो वह अपनी हरकत के लिए अफसोस जाहिर करने पर या आइंदा ऐसे काम में न पड़ने का इकरार लिखने पर आसानी से बाहर जा सकता था। भागने की कोशिश करने से तो किसी हद तक बदनामी होती थी, और ऐसा काम सत्याग्रह-जैसे राजनीतिक कार्य से अलग हो जाने के बराबर था। हमारे लखनऊ-जेल के सुपरिंटेंडेंट ने यह बात अच्छी तरह समझ ली थी, और वह जेलर से (जो कि खानसाहब था) कहा करता था कि अगर आप कुछ कांग्रेस-स्वयंसेवकों को भाग जाने देने में कामयाब हो सकें तो मैं आपको खानबहादुर बनाने के लिए सरकार से सिफारिश कर दूंगा।

हमारे साथ के ज्यादातर कैदी जेल के भीतरी चक्कर की बड़ी बड़ी बैरकों में रखे जाते थे। हममें से अठारह को, जिन्हें मेरे अनुमान से अच्छे बर्ताव के लिए चुना गया था, एक पुराने वीविंग-शेड में रखा गया था, जिसके साथ एक बड़ी खुली जगह थी। मेरे पिताजी, मेरे दो चचेरे भाई और मेरे लिए एक अलग सायबान था, जो करीब करीब 20 × 16 फुट था। हमें एक बैरक से दूसरी बैरक में आने-जाने की काफी आजादी थी। बाहर के रिश्तेदारों से काफी मुलाकातें करने की इजाजत थी। अखबार आते थे, और नई गिरफ्तारियों और हमारी लड़ाई की बढ़ती की ताजा घटनाओं की रोजाना खबरों से जोश का वातावरण रहता था। आपसी बातचीत और बहस में बहुत वक्त जाता था, और मैं पढ़ना या दूसरा ठोस काम कुछ नहीं कर पाता था। मैं सुबह का वक्त अपने सायबान को अच्छी तरह साफ करने और धोने में, पिताजी के और अपने कपड़े धोने में और चर्खा कातने में गुजारा करता था। वे जाड़े के दिन थे, जो कि उत्तर हिंदुस्तान का सबसे अच्छा मौसम है। शुरू के कुछ हफ्तों में हमें अपने स्वयंसेवकों के लिए, या उनमें जो अनपढ़ थे उनके लिए, हिंदी, उर्दू और दूसरे प्रारंभिक विषय पढ़ाने के लिए क्लास खोलने की इजाजत मिल गई थी। तीसरे पहर हम वाली-बाल खेला करते थे।

धीरे धीरे बंधन बढ़ने लगे। हमें अपने अहाते से बाहर जाने और जेल के उस हिस्से में, जहां हमारे ज्यादातर स्वयंसेवक रखे गए थे, पहुंचने से रोक दिया गया। तब पढ़ाई के क्लास अपने-आप बंद हो गए। करीब करीब उसी वक्त मैं जेल से छोड़ दिया गया।

मैं शुरू मार्च में बाहर निकला, और छह या सात हफ्ते बाद,

अप्रैल में फिर लौट आया। तब क्या देखता हूं कि हालत बदल गई है। पिताजी को बदलकर नैनीताल-जेल में भेज दिया गया था, और उनके जाने के बाद फौरन ही नए कायदे लागू कर दिए गए थे। बड़े वीविंग-शेड के, जहां पहले मैं रखा गया था, सारे कैदी भीतरी जेल में बदल दिए गए और वहां बैरकों में रख दिए गए थे। हरेक बैरक करीब करीब जेल के अंदर दूसरी जेल ही थी। दूसरी बैरकवालों से मिलने-जुलने या बातचीत करने की इजाजत न थी। मुलाकात और खत अब कम किए जाकर महीने-भर में एक एक कर दिए गए। खाना बहुत मामूली कर दिया गया, हालांकि हमें बाहर से खाने की चीजें मंगाने की इजाजत थी।

जिस बैरक में मैं रखा गया था, उसमें करीब पचास आदमी रहते होंगे। हम सबको एकसाथ ठूंस दिया गया, हमारे बिस्तरे एक दूसरे से तीन-चार फुट के फासले पर थे। खुशकिस्मती से उस बैरक का करीब करीब हरेक आदमी मेरा जाना हुआ था, और कई मेरे दोस्त भी थे। मगर दिन-रात एकांत का बिल्कुल न मिलना नागवार होता गया। हमेशा उसी झुंड को देखना, वही छोटे छोटे झगड़े-टंटे चलते रहना, और इन सबसे बचकर शांति का कोई कोना भी बिल्कुल न मिलना ! हम सबके सामने नहाते, सबके सामने कपड़े धोते, कसरत के लिए बैरकों के चारों तरफ चक्कर लगाकर दौड़ते, और बहस और बातचीत इस हद तक करते कि दिमाग थक जाता और सोच-समझकर बात भी करने की ताकत न रह जाती थी। यह कौटुंबिक जीवन का एक नीरस-सौगुना नीरस-दृश्य था, जिसमें उसका आनंद, उसकी शोभा और सुख-सुविधा का अंश बहुत कम था; और फिर ऐसे लोगों का साथ, जो भिन्न भिन्न तरह के स्वभाव और रुचियों के थे। हम

सबके मन में इस बात का बड़ा उद्वेग रहता था, और मैं तो अक्सर अकेला रहने के लिए तरसता रहता था। कुछ सालों के बाद तो जेल में मुझे खूब एकांत और अकेलापन मिल गया—ऐसा कि महीनों तक लगातार मुझे किसी जेल-अधिकारी के सिवा और किसी की सूरत भी दिखाई न देती। तब फिर मेरे मन में उद्वेग रहने लगा—मगर इस बार अच्छे साथियों की जरूरत महसूस करता था। अब मैं कभी कभी 1922 में लखनऊ जिला-जेल में इकट्ठा रहने के दिनों को रश्क के साथ याद करता था। फिर भी मैं खूब अच्छी तरह जानता था कि दोनों हालतों में से मुझे अकेलापन ही ज्यादा पसंद आया है, बशर्ते कि मुझे पढ़ने और लिखने की सुविधा हो।

फिर भी मुझे कहना होगा कि उस वक्त के साथी निहायत अच्छे और खुश मिजाज थे, और हम सबकी अच्छी बनी। मगर मेरा खयाल है कि हम सभी कभी कभी एक दूसरे से तंग आ जाते थे और अलहदा होकर कुछ एकांत में रहना चाहते थे। ज्यादा-से-ज्यादा एकांत जो मैं पा सकता था वह यही था कि बैरक छोड़कर अहाते के खुले हिस्से में आ बैठता था। उन दिनों बारिश का मौसम था और बादल होने के कारण बाहर बैठा जा सकता था। मैं गरमी, और कभी कभी बूंदा बांदी सहन कर लेता था, और ज्यादा-से-ज्यादा वक्त बैरक के बाहर बिताया करता था।

खुले हिस्से में लेटकर मैं आकाश तथा बादलों को निहारा करता था, और अनुभव करता था कि बादलों के नित नए रंग कितने सुंदर होते हैं ! यह सौंदर्य मैंने पहले नहीं देखा था।

आह ! मेघमालाओं का यह
पल पल रूप पलटना;

कितना मधुर सपना है लेटे
लेटे उन्हें निरखना !

लेकिन वह समय मेरे लिए सुख और आनंद का न था, वह तो मेरे लिए भार स्वरूप था। मगर जो वक्त मैं इन सतत नए रूप धारण करनेवाले बरसाती बादलों को देखने में बिताता था वह आनंद से भरा रहता था और मुझे राहत मालूम होती थी। मुझे ऐसा आनंद होता मानो मैंने कोई आविष्कार किया हो, और ऐसी भावना पैदा होती मानो मैं कैद से छुटकारा पा गया हूं। मैं नहीं जानता कि खास उसी वर्षा-ऋतु ने इस तरह प्रभावित क्यों नहीं किया। मैंने कई बार पहाड़ों पर और समुद्र पर सूर्योदय और सूर्यास्त के मनोरम दृश्य देखे थे, उनकी शोभा की सराहना की थी, उस समय का आनंद लूटा था तथा उनकी महान भव्यता और सुंदरता से अभिभूत हो उठा था। मगर मैं उनको देखकर यही खयाल कर लेता कि ये तो रोज की बातें हैं, और दूसरी बातों की तरफ ध्यान देने लगता। मगर जेल में तो सूर्योदय और सूर्यास्त दिखाई नहीं देते थे। क्षितिज हमसे छिपा हुआ था और प्रातःकाल तप्त सूर्य हमारी रक्षक दीवारों के ऊपर देर से निकलता था। कहीं चित्र-विचित्र रंग का नामोनिशान नहीं था, और हमारी आंखें सदा उन्हीं मटमैली दीवारों और बैरकों का दृश्य देखते देखते पथरा गई थीं। वे तरह तरह के प्रकाश, छाया और रंगों को देखने के लिए भूखी हो रही थीं, और जब बरसाती बादल अठखेलियां करते हुए, तरह तरह की शक्लें बनाते हुए, भिन्न भिन्न प्रकार के रंग धारण करते हुए हवा में थिरकने लगे तो मैं पागलों की तरह आश्चर्य और आह्लाद से उन्हें निहारा करता। कभी कभी बादलों का तांता टूट जाता और इस प्रकार जो छिद्र हो जाता, उसके भीतर से

वर्षा-ऋतु का एक अद्भुत दृश्य दिखाई देता था। उस छिद्र में से अत्यंत गहरा नीला आसमान नजर आता था, जो अनंत का ही एक हिस्सा मालूम होता था।

हमारे ऊपर सख्तियां धीरे धीरे बढ़ने लगीं, और ज्यादा ज्यादा सख्त कायदे लागू किए जाने लगे। सरकार ने हमारे आंदोलन की नाप-जोख कर ली थी और वह हमें यह मालूम करा देना चाहती थी कि हमारे मुकाबला करने की हिम्मत करने के सबब से वह हम पर किस कदर नाराज है। नए कायदों के चालू करने या उनके अमल में लाने के तरीकों से जेल-अधिकारियों और राजनीतिक कैदियों के बीच झगड़े होने लगे। कई महीनों तक करीब करीब हम सबने—हम लोगों की संख्या उसी जेल में कई सौ थी—विरोध के तौर पर मुलाकातें करना छोड़ दिया था। जाहिर है कि यह खयाल किया गया कि हममें से कुछ झगड़ा करानेवाले हैं, इसलिए सात आदमियों को जेल के एक दूर के हिस्से में बदल दिया गया, जो खास बैरकों से बिल्कुल अलहदा था। इस तरह जिन लोगों को अलग किया गया, उनमें मैं, पुरुषोत्तमदास टंडन, महादेव देसाई, जार्ज जोसफ, बालकृष्ण शर्मा और देवदास गांधी थे।

हमें एक छोटे अहाते में भेजा गया, और वहां रहने में कुछ तकलीफें भी थीं। मगर कुल मिलाकर मुझे तो इस तब्दीली से खुशी ही हुई। यहां भीड़-भाड़ नहीं थी; हम ज्यादा शांति और ज्यादा एकांत में रह सकते थे। पढ़ने या दूसरे काम के लिए वक्त ज्यादा मिलता था। हम जेल के दूसरे हिस्सों के अपने साथी-कैदियों से अलहदा कर दिए गए और बाहरी दुनिया से भी अलहदा कर दिए गए; क्योंकि अब सब राजनीतिक कैदियों के लिए अखबार भी बंद कर दिए गए थे।

हमारे पास अखबार नहीं आते थे, मगर बाहर से कोई कोई खबर अंदर टपक आती थी, जैसे कि जेलों में अक्सर टपका करती है। हमारी माहवारी मुलाकात और खतों से भी हमें बाज बाज ऐसी-वैसी खबरें मिल जाती थीं। हमको पता लगा है कि हमारा आंदोलन बाहर कमजोर हो रहा है। वह चमत्कारिक युग गुजर गया था और कामयाबी धुंधले भविष्य में दूर जाती हुई मालूम हुई। बाहर कांग्रेस में दो दल हो गए थे–परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी। पहला दल, जिसके नेता देशबन्धु दास और मेरे पिताजी थे, चाहता था कि कांग्रेस अगले केंद्रीय और प्रांतीय कौंसिलों के चुनावों में हिस्सा ले और हो सके तो इन कौंसिलों पर कब्जा कर ले। दूसरा दल, जिसके नेता राजगोपालाचार्य थे, असहयोग के पुराने कार्यक्रम में कोई भी परिवर्तन किए जाने के विरुद्ध था। उस समय गांधीजी तो जेल में ही थे। आंदोलन के जिन सुंदर आदर्शों ने हमें, ज्वार की लहरों की चोटी पर बैठे हुए की तरह, आगे बढ़ाया था, छोटे छोटे झगड़ों और सत्ता प्राप्त करने की साजिशों के द्वारा उछाले दूर जाने लगे। हमने यह महसूस किया कि उत्साह और जोश के वक्त में बड़े बड़े और हिम्मत के काम कर जाना जोश गुजर जाने के बाद रोजाना का काम चलाने की बनिस्बत कितना आसान है। बाहर की खबरों से हमारा जोश ठंडा होने लगा, और इनके साथ साथ जेल से दिल पर जो अलग अलग तरह के असर पैदा होते हैं, उनके कारण हमारा वहां रहना और भी दूभर हो गया। मगर फिर भी हमारे अंदर यह एक संतोष की भावना रही कि हमने अपने स्वाभिमान और गौरव को सुरक्षित रखा है, और हमने सत्य का ही मार्ग ग्रहण किया है, चाहे उसका नतीजा कुछ भी हो। आगे क्या होगा, यह तो साफ दिखाई देता

था; मगर आगे कुछ भी हो, हमें ऐसा मालूम होता था कि हम कइयों की किस्मतों में तो जिंदगी का ज्यादा हिस्सा जेलों में गुजारना ही बदा है। इसी तरह की बातें हम आपस में किया करते थे, और मुझे खासतौर पर याद है कि मेरी जार्ज जोसफ से एक बार बातचीत हुई थी, जिसमें हम इसी नतीजे पर पहुंचे थे। उन दिनों के बाद जोसफ हमसे दूर-ही-दूर होते चले गए हैं, और यहां तक कि हमारे कामों के एक जबरदस्त आलोचक भी बन गए हैं। क्या पता लखनऊ-जिला-जेल के सिविल वार्ड में शरद ऋतु की एक शाम को हुई उस बातचीत की याद उनको कभी आती है या नहीं ?

हम रोजाना कुछ काम और कसरत करने में जुट पड़ते। कसरत के लिए हम उस छोटे-से अहाते के चारों तरफ दौड़कर चक्कर लगाया करते थे, या दो बैलों की तरह से दो दो आदमी मिलकर अपने सहन के कुएं से एक बड़ा चमड़े का डोल खींचा करते थे। इस तरह हम अपने अहाते के एक छोटे-से साग-सब्जी के खेत में पानी देते थे। हममें से ज्यादातर लोग रोजाना थोड़ा थोड़ा सूत भी कातते थे। मगर उन जाड़े के दिनों और लंबी रातों में पढ़ना ही मेरा खास काम था। करीब करीब हमेशा जब जब सुपरिंटेंडेंट आता तो वह मुझे पढ़ता हुआ ही देखता था। यह पढ़ते रहने की आदत शायद उसे खटकी और उसने इस पर एक बार कुछ कहा भी। उसने यह भी कहा कि मैंने तो अपना साधारण पढ़ना बारह साल की उम्र में ही खत्म कर दिया था ! बेशक, पढ़ना छोड़ देने से उस बहादुर अंग्रेज कर्नल को यह फायदा ही हुआ कि उसे बेचैनी पैदा करने वाले विचार आए ही नहीं, और शायद इसी से बाद में उसे संयुक्त प्रांत की जेलों के इंसपेक्टर-जनरल

की जगह पर तरक्की पा जाने में मदद मिली।

जाड़े की लंबी रातों और हिंदुस्तान के साफ आसमान ने हमारा ध्यान तारों की तरफ खींचा, और कुछ नक्शों की मदद से हमने कई तारे पहचान लिए। हर रात हम उनके उगने का इंतजार करते थे और मानो अपने पुराने परिचितों के दर्शन करते हों, इस आनंद से उनका स्वागत करते थे।

इस तरह हम अपना वक्त गुजारते थे। दिन गुजरते गुजरते हफ्ते हो जाते और हफ्ते महीने हो जाते। हम अपनी रोजमर्रा की रहन-सहन के आदी हो गए। मगर बाहर की दुनिया में असली बोझ तो हमारे महिला-वर्ग पर—हमारी माताओं, पत्नियों और बहनों पर पड़ा। वे इंतजार करते करते थक गईं, और जब उनके प्रियजन जेल के सींखचों में बंद थे, उन्हें अपने को आजाद रखना बहुत खटकता था।

दिसंबर 1921 में हमारी पहली गिरफ्तारी के बाद ही इलाहाबाद के हमारे मकान, आनंद-भवन, में पुलिस वालों ने अक्सर आना-जाना शुरू किया। वे उन जुर्मानों को वसूल करने आते थे, जो पिताजी पर और मुझ पर किए गए थे। कांग्रेस की नीति यह थी कि जुर्माना न दिया जाए। इसलिए पुलिस रोज रोज आती और कुछ-न-कुछ फर्नीचर कुर्क करके उठा ले जाती। मेरी चार साल की छोटी लड़की इंदिरा इस बार बार की लगातार लूट से बहुत नाराज होती थी। उसने पुलिस का विरोध किया और अपनी सख्त नाराजगी जाहिर की। मुझे आशंका है कि पुलिस-दल के बारे में उसके ये बचपन के भाव उसके भावी विचारों पर असर डाले बिना न रहेंगे।

जेल में पूरी कोशिश की जाती थी कि हमें मामूली

गैर-राजनैतिक कैदियों से अलग रखा जाए। मांमूली तौर पर राजनैतिक कैदियों के लिए अलग जेलें मुकर्रर कर दी जाती थीं। मगर पूरी तरह अलहदा किया जाना तो नामुमकिन था, और हम उन कैदियों से अक्सर मिल लेते थे, और उनसे तथा खुद तजुरबे से हमने जान लिया कि उन दिनों वास्तव में जेल की जिंदगी कैसी होती थी। उसे मार-पीट और जोर की रिश्वतखोरी और भ्रष्टता की एक कहानी ही समझना चाहिए। खाना अजीब तौर पर खराब था; मैंने कई मर्तबा उसे खाने की कोशिश की, मगर बिल्कुल न खाए जाने लायक पाया। कर्मचारी आमतौर पर बिल्कुल अयोग्य थे और उन्हें बहुत कम तनख्वाहें मिलती थीं। मगर उनके लिए कैदियों या कैदियों के रिश्तेदारों से हर मुमकिन मौके पर रुपया ऐंठकर अपनी आमदनी बढ़ाने का रास्ता पूरी तरह खुला था। जेलर और उसके असिस्टेंटों और वार्डरों के कर्तव्य और उत्तरदायित्व, जेल-मैन्युअल में लिखे मुताबिक इतने ज्यादा और इतने किस्म के थे कि किसी भी आदमी के लिए उनका ईमानदारी या योग्यता के साथ पालन करना नामुमकिन था। संयुक्तप्रांत में (और संभवतः दूसरे प्रांतों में भी) जेल-शासन की सामान्य नीति का, कैदी को सुधारने या उसे अच्छी आदतें या उपयोगी धंधे सिखाने से कोई संबंध न था। जेल की मशक्कत का मकसद सजायाफ्ता आदमी को तंग करना था और यह कि उसको इतना भयभीत कर दिया जाए और दबाकर पूरी तरह आज्ञानुवर्ती कर लिया जाए, जिससे जब वह जेल से छूटे तो दिल में उसका डर और खौफ लेकर जाए और आइंदा जुर्म करने और फिर जेल लौटने से बाज आए।

पिछले कुछ बरसों में कुछ सुधार जरूर हुए हैं। खाना थोड़ा

सुधरा है, और कपड़े वगैरा भी सुधरे हैं। यह भी ज्यादातर राजनैतिक कैदियों के छूटने के बाद उनके बाहर आंदोलन करने के कारण हुआ है। असहयोग के कारण वार्डरों की तनख्वाहों में भी काफी तरक्की हुई है, ताकि वे 'सरकार' के वफादार बने रहें। लड़कों और छोटी उम्र के कैदियों को पढ़ना-लिखना सिखाने के लिए भी अब थोड़ी-सी कोशिश की जाती है। मगर अच्छे होते हुए भी, इन सुधारों से असली सवाल कुछ भी हल नहीं होता है और अब भी ज्यादातर वही पुरानी भावना चली आ रही है।

ज्यादातर राजनैतिक कैदियों को मामूली कैदियों के साथ किए जानेवाले इस नियमित व्यवहार को ही सहना पड़ा। उन्हें कोई विशेष अधिकार या व्यवहार नहीं मिला, मगर दूसरों से ज्यादा तेज-तर्रार और समझदार होने के कारण उनसे आसानी से कोई बेजा फायदा नहीं उठा सकता था, न उनसे रुपया ऐंठा जा सकता था। इस सबब से आप ही कर्मचारी उन्हें पसंद नहीं करते थे, और जब मौका आता तो उनमें से किसी को भी जेल के कायदे टूटने पर सख्त सजा दी जाती। ऐसे ही कायदे तोड़ने के लिए एक छोटे लड़के को, जिसकी उम्र 15 या 16 साल की थी और जो अपने को 'आजाद' कहता था, बेंत की सजा दी गई। वह नंगा किया गया और बेंत की टिकटी से बांध दिया गया, और जैसे जैसे बेंत उस पर पड़ते थे और उसकी चमड़ी उधेड़ डालते थे, वह 'महात्मा गांधी की जय' चिल्लाता था। हर बेंत के साथ वह लड़का यही नारा तब तक लगाता रहा, जब तक बेहोश न हो गया। बाद में वही लड़का उत्तर भारत के आतंककारी कार्यों के दल का एक नेता बना।

—जवाहरलाल नेहरू की आत्मकथा
'मेरी कहानी' से उद्धृत

डा. राजेन्द्र प्रसाद

1. जेल में

हजारीबाग जेल के जेलर बाबू नारायण प्रसाद मेरे पूर्व परिचित थे। उनके एक बड़े भाई मेरे स्कूल के साथी थे, जिनसे मेरी मित्रता थी। मैं उनके घर पर कभी कभी जाया करता था। वह बड़े कार्यकुशल और विचारशील जेलर थे। उन्होंने मुझे वहीं स्थान दिया जहां रामदयालु बाबू, श्री बाबू, विपिन बाबू प्रभृति रहते थे। जेल में मेरा समय कुछ पढ़ने और सूत कातने में बीतता था। पीछे सुपरिंटेंडेंट मेजर ऐयंगर से कहकर मैं उस कारखाने में, जहां कपड़ा और नेवार बुना जाता था, बुनाई का काम करने लगा। इन पांच-छह महीनों में मैंने प्रायः दो सौ गज नेवार और 14-15 गज कपड़े भी बुन लिए। पर वह कपड़ा चर्खे के सूत का नहीं था, जेल का ही था, इसलिए उसे वहीं छोड़ दिया गया। पर नेवार को चलने के समय दाम देकर खरीद लिया। मैं जुलाई के पहले सप्ताह में गिरफ्तार हुआ था और दिसंबर के अंत तक वहां रहकर रिहा हुआ। समय बीतते देर न लगी।

इस बीच में श्री दीपनारायण सिंह भी वहां पहुंच गए। वह भी हमारे साथ ही उसी कमरे में रहे। दक्षिण अफ्रीका वाले स्वामी भवानीदयाल भी उसी वार्ड में रहते थे। दूसरे वार्ड में जो मित्र रहते थे वे भी जेलर से इजाजत लेकर जब-तब हम लोगों से मिलते रहते

थे या हम ही उनके वार्ड में जाकर उसी तरह मिलते थे। किसी बात की तकलीफ नहीं थी। पुस्तकों के संबंध में कुछ रुकावट थी। कोई पुस्तक, पुलिस अथवा मजिस्ट्रेट के 'पास' किए बिना, हम लोगों को नहीं मिलती थी ! पास करने वाले सज्जन कुछ बहुत पढ़े-लिखे नहीं मालूम होते थे। जिस पुस्तक के नाम में किसी तरह 'पालिटिक्स' या 'पोलिटिकल' शब्द आ जाए उसे वे हरगिज नहीं पास करते। जिसमें ये शब्द न आवें उस पुस्तक को, चाहे उनके दृष्टिकोण से वह कितनी भी खराब पुस्तक क्यों न हो, वे पास कर देते। उदाहरणार्थ, वहां की एक मजाक की बात सुन लीजिए।

किसी ने 'इकोनोमिक्स' की एक पाठ्य पुस्तक, जो कालेजों में पढ़ाई जाती थी, मंगाई। उसका नाम था 'टेक्स्ट बुक आफ पोलिटिकल इकोनोमी' उसे उन्होंने नामंजूर कर दिया, चूंकि नाम में 'पोलिटिकल' शब्द था ! पर ए बी सी आफ कम्युनिज्म और 'थ्यौरी आफ लेजर क्लास' के पास करने में वे नहीं हिचके ! पहली पुस्तक को न मालूम क्या समझ कर पास किया, पर दूसरी के संबंध में हम लोगों का अनुमान हुआ कि उन्होंने समझा होगा, इसमें ऐसे लोगों के मनबहलाव की बातें होंगी जिनके पास बहुत अवकाश का समय रहता है !

मैंने जेल में सोचा कि गांधीजी के लेख अधिकतर उनके साप्ताहिकों की फाइलों में ही पड़े हैं। यद्यपि मद्रास के प्रकाश श्री गणेशन ने उनको इकट्ठा करके पुस्तकाकार में प्रकाशित किया है और उसके लिए मैंने एक लंबी भूमिका भी लिखी है, तो भी मेरा विचार हुआ कि यदि एक एक विषय के सभी लेखों का अलग अलग संग्रह छापा जाए और आरंभ की छोटी-सी भूमिका में उन

लेखों का संक्षिप्त अर्थ दे दिया जाए, जिससे पाठक उस विषय पर उनके विचारों को थोड़े शब्दों में जान लें और तब उनका विस्तारपूर्वक उनके अपने शब्दों में एक जगह अध्ययन करें, तो अच्छा होगा। इसलिए, मैंने उन लेखों को कई विभागों में बांटा, जैसे—अहिंसा, स्वराज्य, सत्याग्रह, शिक्षा, खादी इत्यादि। फिर प्रत्येक विषय पर छोटा लेख लिखा जिसमें उनके विचारों का सारांश था। लेखों को चुन लिया। कुछ मित्रों ने अलग अलग उनकी नकल भी तैयार कर दी। मेरी भूमिका भी पूरी हो गई। इसी समय मैं छूट गया।

बाहर आने पर समय न मिला कि उसे फिर एक बार देखकर छपवाऊं। गांधीजी से भेंट होने पर उनसे पूछा कि ऐसा करना क्या वह पसंद करेंगे ? उन्होंने अपनी अनुमति दे दी। यह भी कहा कि कुछ दिन पहले किसी ने गुजराती में ऐसा ही संग्रह छापा भी है। कुछ और मित्रों ने भी इसे पसंद किया। विशेषकर पुरूलिया के श्री निवारणचन्द्र दासगुप्त ने इसे बहुत पसंद किया था। उन्होंने भूमिका में कुछ सुधार भी बतलाए थे, जिनको मैंने मान लिया था 1931 में यह चीज प्रेस में न जा सकी। जब 1932 में फिर हम लोग गिरफ्तार हो गए तो सदाकत आश्रम भी जब्त हो गया। बस, फिर वह लिखी हुई चीज मुझे नहीं मिली। न मालूम कहां रखी गई और किस तरह गायब हो गयी !

जेल के अंदर चर्खा चलाने और उद्योग-धंधे के अलावा धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन भी हुआ करता था। छपरे के पं. भरत मिश्रजी भी साथ थे। उनसे श्री वाल्मीकीय रामायण की कथा और पं. विष्णुदत्त शुक्ल से दुर्गा सप्तशती की कथा सुनी। स्वयं पहले-पहल मुख्य उपनिषदों को आद्योपांत पढ़ गया।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, हजारीबाग जेल में सूबे के प्रायः सभी जिलों के प्रमुख कांग्रेसी लोग भेजे गए थे। मैं बराबर सूबे में बहुत दौरा किया करता था। अधिकतर कांग्रेस कार्यकर्ताओं को जानता था। पर जेल में जितने दिनों तक एक साथ रहने का मौका मिला उतना कभी बाहर नहीं मिला था। वहीं स्वामी भवानीदयाल के साथ बहुत दिनों तक रहकर एक-दूसरे को जानने-पहचानने का मौका मिला। वह स्मृति सदैव एक मीठी स्मृति बनी रहेगी। मुजफ्फरपुर जिले के ठाकुर नवाबसिंह एक पुराने विचार के वयोवृद्ध सज्जन थे—अथवा यों कहें कि अंगरेजी शिक्षा से अनभिज्ञ, तो बेहतर होगा। गांधी जी के असहयोग आंदोलन ने गांवों में बहुतेरों को प्रभावित किया था। बिहार में विशेषकर गांवों के लोगों पर ही अधिक प्रभाव पड़ा था। इसके विपरीत पास के ही सूबे युक्तप्रांत में अधिक प्रभाव शहरों पर पड़ा था। चम्पारण में गांधी जी के काम से देहात के लोग परिचित हो गए थे। इसलिए किसानों में, जो अधिकतर गांवों में ही रहते हैं, उनका बहुत प्रभाव था। उसी प्रभाव में पड़कर ठाकुर नवाबसिंह इस आंदोलन में शुरू में ही आ गए थे। आए भी तो अकेले नहीं। उनके लड़के, भतीजा, पोता—सब-के-सब साथ आए। सीतामढ़ी सबडिवीजन में जो कुछ होना हो, जो कुछ करना हो, ठाकुर नवाबसिंह पर उसका भार पड़ता। वही नेतृत्व करते। आधुनिक रीति से शिक्षित न होकर वह इतने समझदार थे कि सब बातों को जल्द समझ लेते। कांग्रेस की आज्ञा को पूरा करने और कराने में यथासाध्य खूब चेष्टा करते। वह भी अपने पुत्र के साथ उसी जेल में थे। उनको भी अधिक जानने का सुअवसर मुझे वहीं मिला। उन्होंने अपने जीवन के अंत तक अपना विचार दृढ़ रखा।

1942 के अगस्त में, गांधी जी और दूसरों की गिरफ्तारी के बाद, जो हलचल शुरू हुई उसमें वह उसी उत्साह, निर्भीकता और दृढ़ विश्वास के साथ शरीक हुए जिसके साथ वह शुरू में आंदोलन में आए थे। सीतामढ़ी नेपाल के निकट है। वह पुलिस की धांधली से बचकर काम करने के लिए नेपाल की तराई में चले गए। वहीं से कांग्रेस का काम करते रहे। वहीं बीमार पड़े और हमने जेल में सुना कि उनका देहावसान हो गया।

स्वामी सहजानन्द भी जेल में थे। बहुतेरे लोग उनसे गीता पढ़ते थे। मेरी भी इच्छा थी, पर समयाभाव से यह पूरी न हुई। पर सबसे अधिक मेरी घनिष्ठता श्री निवारणचन्द्र दासगुप्त से बढ़ गई। वह एक साधु प्रकृति के पुरुष थे। उन्होंने गांधीजी के असहयोग आंदोलन को केवल एक राजनीतिक आंदोलन ही न मानकर धार्मिक उत्थान का एक साधन भी माना था। उनके साथ हम लोगों ने पतंजलि के योगसूत्र का अध्ययन किया। वहीं उनकी विद्वता और गंभीर गवेषणा-शक्ति का पता चला। यह भी मालूम हुआ कि उन्होंने किस तरह अपने जीवन को उन शास्त्रीय नियमों के अनुसार ढालने का प्रयत्न किया है। कुछ दिनों के बाद क्षय-रोगग्रस्त होकर वह एक ऐसा स्थान खाली छोड़ गए जिसकी अभी तक पूर्ति नहीं हुई है।

जेल में कुछ बातों में आपस की सुखद प्रतिद्वंद्विता भी हुई। कुछ लोगों ने 'बंदी' या 'कैदी' नाम का एक हस्तलिखित मासिक पत्र निकाला। दूसरों ने 'कारागार' नाम का दूसरा मासिक निकाला, जिसमें यह लिखा कि कैदी या बंदी तो आते-जाते रहते हैं, बदलते रहते हैं; पर कारागार तो स्थायी रूप से चलता ही रहता है ! इन पत्रों में राष्ट्रीय आंदोलन संबंधी लेख लिखे जाते थे। एक

विशेषांक में सभी जिलों के प्रमुख कार्यकर्ताओं से, अपने अपने जिले में आंदोलन की प्रगति पर, लेख लिखवाए गए। मेरा ख्याल है कि उससे बहुत-कुछ ऐसा मसाला मिलता जिससे आंदोलन का इतिहास लिखा जा सकता। याद नहीं, वह विशेषांक कहां है। इन पत्रिकाओं के मुख्य प्रबंधक और लेखकों में सर्वश्री स्वामी भ़वानीदयाल, गंगया के बाबू मथुरा प्रसाद सिंह, रामवृक्ष बेनीपुरी और उत्साही युवक महामाया प्रसाद थे। एक-दो अंकों में कुछ चित्र भी थे जिनके बनाने या बनवाने का श्रेय गिद्धौर के कुमार कालिका प्रसाद सिंह को था।

इस जेल-यात्रा में हमको जेल की बातों का विशेष ज्ञान या अनुभव नहीं हुआ; क्योंकि एक तो अपने ही लोग इतने थे कि दूसरों की ओर ख्याल अधिक गया ही नहीं; दूसरे, मामूली कैदियों से मिलने का बहुत मौका भी न मिला। हम लोगों के काम कर देने के लिए जो कैदी मिलते थे, अथवा जब मैं कारखाने में नेवार या कपड़ा बुनने जाया करता तो वहां जो कैदी काम करते थे, बस उनसे ही मुलाकात होती थी, दूसरों से नहीं। पर इनमें जो मिले उनमें बहुतेरे अच्छे भी मालूम पड़े। किसी-न-किसी कारण से वे जेल चले आए थे। पर उनमें मामूली तौर पर कोई ऐसी बात नहीं नजर आती थी जिसके लिए उन्हें लंबी सजा का मिलना उचित मालूम हो। इस संबंध में पीछे अनुभव प्राप्त हुए, जिनका जिक्र किसी दूसरे अवसर पर किया जाएगा।

हम लोगों को शुरू में कोई अखबार नहीं मिलता था, जिसकी जरूरत सभी बहुत महसूस करते थे। पर जेल एक ऐसी जगह है जहां प्रबंध करने पर सब कुछ मिल सकता है ! इस विशेष प्रबंध के लिए लोगों ने एक विशेष शब्द खोज निकाला। उसे 'तिकड़म'

कहते है। कुछ लोग 'तिकड़म' से कभी कभी कोई-न-कोई अखबार मंगा ही लेते थे। उसे पढ़कर छपी खबरों को दूसरों तक पहुंचा देते थे। कुछ दिनों के बाद एक सज्जन सबकी राय से कहीं से अखबार प्राप्त कर पढ़ लेते और सबको खबर सुना देते। जब खबर सुनाने का समय आता, सभी लोग उत्सुकतापूर्वक उनकी बाट जोहते। उनकी स्मरणशक्ति और कहने का ढंग भी ऐसा था कि सब लोग बहुत प्रसन्न हो जाते। गवर्नमेंट ने कुछ दिनों के बाद अखबार देना मंजूर किया। पर जैसा उसका सब काम हुआ करता है, दिखाने के लिए तो कहा गया कि अखबार दिए जाते हैं; पर हम लोगों को मिलता था सप्ताह में एक ही अखबार एक ही बार, और वह भी 'स्टेट्समैन' का साप्ताहिक संस्करण ! वह विदेशों के लिए छपा करता था ! उसमें विशेषकर ऐसे विचार रहा करते थे, जिनके जानने की उत्सुकता हम लोगों में शायद ही किसी को होगी। खबरें उसमें केवल ऐसी होतीं जिनमें विदेशी पाठकों की ही अधिक दिलचस्पी हो सकती थी और जो एक सप्ताह पुरानी भी होतीं। भारत में रहने वालों को, विशेषकर सत्याग्रहियों को, उन खबरों से कोई लाभ नहीं। चाहे विधान के रूप में हो, चाहे किसी दूसरे प्रकार के सुधार के रूप में हो, ब्रिटिश सरकार जो सहूलियतें देने की घोषणा करती है, उनकी अधिकतर यही हालत हुआ करती है ! कहने के लिए एक चीज दी तो गयी, पर जिसमें कोई सार नहीं, असली तत्व नहीं। इन्हीं चीजों से जेल का समय कटता था।

—राजेन्द्र बाबू की 'आत्मकथा' से उद्धृत

2. बांकीपुर (पटना) जेल में ली गई प्रतिज्ञा

स्वतंत्रता सभी देशों और उनमें बसने वालों का जन्मसिद्ध अधिकार है। हम भारतवासी दुर्भाग्यवश आज स्वतंत्र नहीं हैं। पर हमने निश्चय कर लिया है कि हम भी स्वतंत्र होकर ही रहेंगे। परतंत्रता का अनुभव हमको बताता है कि इसने कितना हमारा मानसिक, बौद्धिक, आर्थिक और राजनीतिक ह्रास किया है और हमारी उन्नति के लिए—अपना जीवन जीने के लिए—और संसार की सेवा में अपने योग्य भाग लेने के लिए—इस परतंत्रता का दूर होना आवश्यक है। हम चाहते हैं कि इस देश के सभी रहने वाले सुखी हों—भूख और दरिद्रता रोग और अविद्या, आपस के भेदभाव, छूत-अछूत की बुरी भावना यहां से दूर हो जाए—सबों को बिना लिहाज धर्म जाति कुल और वर्ग के वह सभी साधन उपलब्ध हों—जो उन्नति और विकास के लिए आवश्यक हैं।

इन महान उद्देश्यों की सिद्धि हमारे प्रयत्न, त्याग और अध्यवसाय पर बहुत कुछ अवलंबित है। हमने इनकी प्राप्ति के लिए अहिंसात्मक उपायों का अवलंबन स्वीकार किया है। आज हम फिर इस बार अपनी अभिलाषाओं और आशाओं को जागृत करते हैं और प्रतिज्ञा करते हैं कि हम देश को आजाद बनाएंगे और आजादी से मिलने वाली संपत्ति उसे उपलब्ध कराएंगे।

(उपर्युक्त प्रतिज्ञापत्र सन 1943 के 26 जनवरी का बांकीपुर (पटना) जेल में स्वयं राजेन्द्र बाबू ने अपने हाथ से लिखा और स्वतंत्रता दिवस के रूप में अपने जेल के साथियों के साथ प्रतिज्ञापत्र पढ़ते हुए संकल्प लिया था।)

जयप्रकाश नारायण का पत्र–विद्यार्थियों के नाम

अपने विद्यार्थियों से :

(सन 1942 में हजारीबाग केंद्रीय कारागार से पलायन के बाद जयप्रकाश ने महीनों भूमिगत रहकर भारत छोड़ो आंदोलन का सक्रिय संचालन किया था। भूमिगत रहते हुए ब्रिटिश साम्राज्यवादिता के विरुद्ध संघर्ष करने वाले भारत के तरुण विद्यार्थियों के नाम जयप्रकाश ने एक पत्र प्रकाशित कराया था। वह पत्र यहां ज्यों का त्यों प्रस्तुत है।)

प्यारे दोस्तों,

मैं बयान नहीं कर सकता कि आजादी की इस आखिरी लड़ाई में फिर से आपकी बगल में आ खड़े होने में मैं कितनी खुशी महसूस कर रहा हूं।

सबसे पहले मैं अपनी श्रद्धांजलि उन नौजवान देशभक्तों की स्मृति में पेश करना चाहता हूं, जिनकी असीम वीरता और अनुपम शहादत ने हमारी राष्ट्रीय क्रांति के जीवंत इतिहास में सुनहरे पृष्ठ जोड़े हैं। उनका उदाहरण हमारे लिए एक अमर प्रेरणा बना रहेगा और उनके लिए एक फटकार, जो विचलित हो रहे या पीछे हट रहे हैं।

उसके बाद आपने महान स्वाधीनता युद्ध में जो शानदार

हिस्सा लिया है, उसके लिए मैं अपना हार्दिक अभिनंदन आपके प्रति प्रेषित कर रहा हूं। मैं शर्म से यह स्वीकार करता हूं कि मैंने यह कल्पना नहीं की थी कि देश का विद्यार्थी-समूह इतना कर गुजरेगा। 1921 में जो परंपरा विद्यार्थियों ने बनाई, वह ऊसर हो चुकी है, यह कल्पना भी अविश्वसनीय जंचती थी, किंतु मेरा कुछ ऐसा ही विश्वास हो चला था। इसलिए जब आप बहादुराना कार्यवाहियों से इतिहास की रचना कर रहे थे, मैं जेल की ठंडी दीवारों के अंदर बड़े हर्ष और गर्व से दिन-ब-दिन की घटनाओं का अनुगमन कर रहा था। आपने इस खुली बगावत में जैसा हिस्सा लिया और कुर्बानियां कीं, उनके सामने 1921 की घटनाएं फीकी फीकी जंचती हैं।

किंतु दोस्तों, यह समय अपनी पतवार संभाल कर विश्राम करने या अपने कारनामों पर गौर करने का नहीं है। आज की समस्या यह नहीं है कि हमने कितना कर लिया, बल्कि देखना यह है कि हम अभी क्या कर रहे हैं और आगे क्या करने जा रहे हैं। इन्हीं प्रश्नों पर आपके सामने मुझे कुछ निवेदन करना है।

कुछ हफ्ते हुए, कालेज खुल गए हैं और आप अब अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए दिखाई पड़ते हैं। यदि मैं कहूं कि यह समय पढ़ने या परीक्षा देने का नहीं तो आप समझेंगे कि मैं चर्वित, चवर्ण कर रहा हूं। किंतु क्या रूस या चीन, आक्सफोर्ड या हवाई विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी ऐसी सलाहों पर इसी तरह सोचेंगे ? आपके अभिभावकों या आपके विश्वविद्यालयों के कुलपतियों एवं दीर्घांत-भाषणकर्ताओं के लिए यह कहना साधारण बात है कि विद्यार्थियों का प्रमुख कार्य अध्ययन करना और उपाधि लेना है और उसके बाद ही उन्हें अधिक योग्य होकर राजनीति में प्रवेश

करना है, जिसमें वे देश की अच्छी तरह सेवा कर सकें।

लेकिन, मैं कहता हूं, इस तरह का सोचना या सलाह देना सड़े दिमाग की निशानी है। साधारण समयों में विद्यार्थियों के लिए एक ही धर्म है कि वे पढ़ें और अपने व्यक्तित्व का विकास करें, जिससे वे योग्य नागरिक बन सकें ओर अपनी सर्वोत्तम योग्यता से देश की सेवा कर सकें। किंतु राष्ट्रों की जिंदगी में ऐसे भी समय आते हैं, जब व्यक्ति के विकास को इसलिए रोक देना पड़ता है कि सारा राष्ट्र जीवित रह सके और विकसित हो सके—जब समाज की उन्नति की वेदी पर व्यक्ति का निर्भय और निष्ठुर बलिदान कर देना होता है। सोचिए तो कि रूस और चीन के विद्यार्थी इस समय अपने विश्वविद्यालयों में अध्ययन करने में लगे हुए हैं या अपने देश के अस्तित्व और कीर्ति की रक्षा के लिए अपनी जान की कुर्बानी हंसते हंसते चढ़ा रहे हैं। सोचिए तो कि उन देशों में क्या शिक्षकों और अभिभावकों को इस तरह की बातें कहने की हिम्मत भी हो सकती है और क्या उनकी ऐसी बातें बर्दाश्त भी की जा सकती हैं ? क्या कैम्ब्रिज या कोलम्बिया के विद्यार्थियों को युद्धक्षेत्र में जाने से इसलिए रोका जा सकता है कि उन्हें पहले उपाधि प्राप्त कर लेनी चाहिए ?

नहीं दोस्तों, नहीं। ऐसे वक्त आते हैं, जब व्यक्ति को जान देकर अपने देश को जीवित रखना और अपनी सभ्यता को विकसित करना पड़ता है। आज का वक्त ऐसा ही है। हमें भी आज अपनी जान देकर, तकलीफें सहकर, अपने को मिटाकर अपने देश को आजाद करना है, अपनी सभ्यता को फूलने-फलने का मौका देना है। इसलिए आप देशद्रोहियों और कायरों की बातों में न आएं।

तब आप करें क्या ?

अपने क्रांतिकारी करतबों से आपने स्कूलों और कालेजों को बंद होने को लाचार कर दिया। ये खुल रहे हैं यही आपकी हार है, हम सबकी हार है। आप क्यों लौट रहे हैं, मेरी समझ में नहीं आ रहा है। आपने आजादी को वर्तमान लड़ाई का स्वरूप समझने में गलती की, ऐसा मैं किस तरह कहूं ? हमारी यह आखिरी लड़ाई सिर्फ प्रदर्शन या क्षणिक जोश की चीज नहीं। यह काफी गंभीर और भयावनी चीज ठहरी और विजय छोड़कर दूसरा इसका अंत नहीं। इस बारे में आप भ्रम में नहीं रहें।

कह नहीं सकता, आपका दिमाग किस तरह काम करता है, किंतु यदि मैं आपकी जगह पर होता, तो अगस्त की घटनाओं के बाद स्कूल या कालेज में जाने का सपना भी नहीं देख सकता था। मैं अपने अनुभव से आपको विश्वास दिलाता हूं कि यदि एक या दो साल कालेज से बाहर रहा जाए, तो उससे शिक्षा में कोई त्रुटि नहीं होती। 1921 के असहयोग आंदोलन में एक साल मैं बाहर बाहर रहा, किंतु अमेरिका में पढ़ते समय भी कभी कभी महीनों, तो कभी साल साल भर तक मैं कालेज से बाहर रहकर अपनी पढ़ाई का खर्च जुटाता रहा। और, मैं आपसे यह कहते हुए आनंद अनुभव कर रहा हूं कि विश्वविद्यालयों में जितना मैंने सीखा, बाहर उससे कम नहीं सीखा। फिर हमारे देश की शिक्षा-पद्धति इतनी अस्वाभाविक, इतनी भूल-भुलैया भरी और जीवन की यथार्थता से इतनी दूर है कि यदि आप एक-दो साल के लिए उसे सलाम कर लीजिए और राष्ट्रीय जीवन के तूफान में अपने को डाल दीजिए, तो आपको लाभ ही लाभ हो।

मालूम होता है, कालेजों से निकलने के बाद सूनापन अनुभव

कर रहे थे, कोई काम हाथ में नहीं होने से आपका मन ऊब रहा था। किंतु मैं तो देखता हूं कि आज काम ही काम है—इतने काम हैं कि हर आदमी के लिए ढेर का ढेर अनुभव हो। मैं तो यहां तक कहने को तैयार हूं कि यदि आप घर रहकर खेतीबारी में मन लगाए होते या कुछ बच्चों को पढ़ाए होते या गांव की सफाई में लगकर लोगों को स्वस्थ और सुंदर जीवन की ओर प्रेरित किए होते, तो देश की बड़ी सेवा आपसे हो गई होती। ऐसा करके आप स्कूलों और कालेजों को खुलने से रोक सके होते और यों आप दुश्मन की मदद करने से बच गए होते—क्योंकि इनका खुलना तो दुश्मन की विजय की सूचना है।

किंतु आज का तथ्य यह है कि स्कूल और कालेज खुल गए हैं। मैं अपने में वह विश्वास नहीं अनुभव करता कि आपसे कहूं कि अब भी आप उन्हें खाली कर दीजिए, या उन्हें बंद करा दीजिए। मेरे शब्दों का आपके लिए क्या वजन होगा, मैं नहीं जानता। लेकिन आपने जो किया है, उसके बारे में मैं आपको भ्रम में नहीं रखना चाहता। शिक्षणालयों में लौटकर आपने अपने को अपने प्रति और अपने नेताओं के प्रति बहुत छोटा और, मैं कहूं, झूठा साबित किया है, तो आप बुरा न मानें। प्रारंभ में आपने जिस लक्ष्य की इतनी सेवा की, इतना लाभ पहुंचाया, उसे ही आपने इस कार्यवाही द्वारा घायल कर दिया, नुकसान पहुंचाया। आपका रास्ता साफ है और खुला है—उस पर आप चलें या नहीं, आपकी मर्जी।

लेकिन जो लोग स्कूलों और कालेजों में रहना चाहते हैं, उनके लिए भी बहुत से काम हैं। अपनी कमजोरियों के क्षणों में या बगावत कुचल दी गई, यह मानकर, आप इन शिक्षालयों में लौटे हैं। किंतु अब भी समय है आप सोच-विचार करें। सबसे बड़ी

भूल होगी ऐसा सोचना कि क्रांति दबा दी गई, या उसकी धारा में पानी न रहा। 'आजादी के सैनिकों के नाम'—अपने पत्र में मैंने अगस्त क्रांति के भूत, वर्तमान और भविष्य के बारे में विश्लेषण किया है। उन बातों को दुहराना यहां फिजूल है, लेकिन दो बातों की ओर इशारा करना जरूरी है। क्रांति का पहला दौर सफल रहा, क्योंकि हिंदुस्तान के बहुत से हिस्सों से इसने अंग्रेजी राज्य को उखाड़ फेंका। इसका विकास इसलिए नहीं रुका कि दुश्मन की बड़ी ताकत उसका रास्ता रोक सकी। बल्कि इसलिए कि उसके पीछे जबर्दस्त संगठन नहीं था और न उसके आगे को कोई चेतनापूर्ण कार्यक्रम ही था। इससे यही नतीजा निकलता है कि हमारा तुरंत का काम यह होना चाहिए कि चढ़ाई के लिए हम अभी से संगठन, अनुशासन और कार्यक्रम पर ध्यान दें। हमारे पास खोने के लिए एक क्षण भी नहीं है—इसलिए इसमें जल्दी करनी चाहिए।

तैयारी के हर क्षेत्र में आपकी सहायता की हमें आवश्यकता है। हमें गांवों में और औद्योगिक केंद्रों में, रेलवे में और खानों में, सेना में और सरकारी महकमों में काम करना है। हमें साहित्य का प्रकाशन एवं प्रचार करना है, संपर्क और यातायात का प्रबंध करना है, सैनिक दस्तों की शिक्षा दीक्षा के बारे में सतर्क रहना है, कारीगरों को विध्वंस के कार्यों के लिए एकत्र करना है, और इन कामों के साथ शत्रु से कदम कदम पर मुठभेड़ और छेड़खानी करते जाना है। केंद्रीय कमांड के अधीन संगठन का एक जाल बनाने की कोशिश हो रही है। वर्तमान संपर्कों के आधार पर हम आपसे मिलेंगे और आपको योग्य कार्यों में लगाएंगे।

इन कामों में बहुत से काम हैं, जिन्हें आप पढ़ते हुए भी कर

सकते हैं, जैसा कि कुछ लोग कर रहे हैं। मुझे आशा है कि दूसरी चढ़ाई के वक्त भी आप अगस्त की ही तरह क्रांतिकारी सेना की अगली पांत में रहेंगे। किंतु इस चढ़ाई में दुश्मन के पैर तुरंत और सदा के लिए उखड़ जाएं, इसके लिए जरूरी है कि आप गंभीरतापूर्वक इन कार्यों में लग जाएं और संगठन को तुरंत ही पुख्ता बना लें।

आपको बहुत काम करने हैं। इसलिए मैं आपका ज्यादा समय लेना नहीं चाहता। आपने हमें बड़ी बड़ी आशाएं दिलाई हैं। इन आशाओं को पूरा करना आप ही का काम है। याद रखिए, संसार भर में आज नौजवान अपना हृदय-रक्त अच्छे या बुरे उद्देश्यों के लिए प्रचुरता से उड़ेल रहे हैं। चालीस करोड़ मनुष्यों की आजादी से बढ़कर राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय, नैतिक या भौतिक दृष्टि से कोई दूसरा महान और पवित्र उद्देश्य नहीं हो सकता। मानवता के पंचमांश की स्वाधीनता का योद्धा बनकर आप आजादी, शांति और उन्नति की अंतर्राष्ट्रीय सेना के अग्रसेनानी सिद्ध होंगे। संसार के कल्याण की कुंजी एशिया है और एशिया की कुंजी हिंदुस्तान।

इसलिए, साथियों, बढ़ते चलो। खून, आंसू और मेहनत—हमारी तकदीर में यही लिखे हैं, किंतु इन्हीं से हमारी मातृभूमि और हमारी जनता की आजादी प्रस्फुटित होगी। हम स्वतंत्र हिंदुस्तान की सृष्टि करेंगे, और एक नए संसार की।

इंकलाब जिंदाबाद

हिंदुस्तान के कोने से

—जयप्रकाश नारायण

(सन 1942)

सुभाष चन्द्र बोस के पत्र

1. एन.सी. केलकर के नाम

(इस पत्र को सेंसर द्वारा इस आधार पर रोक लिया गया था कि इसे "सरकार के विरुद्ध आलोचनात्मक" पाया गया था।)

मांडले सेंट्रल जेल
अपर बर्मा
20-8-25

प्रिय श्री केलकर,

मैं पिछले कुछ महीनों से आपको लिखने की सोचता रहा हूं जिसका कारण केवल यह रहा है कि मैं आप तक ऐसी जानकारी पहुंचा दूं कि जिसमें आपको दिलचस्पी होगी। मैं नहीं जानता कि अपको मालूम है या नहीं कि मैं यहां गत जनवरी से कारावास में हूं। जब बरहमपुर जेल (बंगाल) में मुझे मांडले जेल के लिए स्थानांतरण का आदेश मिला था। तब मुझे यह स्मरण नहीं आया था कि लोकमान्य तिलक ने अपने कारावास काल का अधिकांश भाग मांडले जेल में ही गुजारा था। जब तब मैं यहां सशरीर आ ही नहीं गया तब तक चहारदीवारी में यहां के बहुत ही हतोत्साहित कर देने वाले परिवेश में स्वर्गीय लोकमान्य ने अपने सुप्रसिद्ध

'गीता रहस्य' ग्रंथ का प्रणयन किया था जिसने मेरी नम्र राय में उन्हें शंकर और रामानुज जैसे प्रकांड भाष्यकारों की श्रेणी में स्थापित कर दिया है।

जिस वार्ड में लोकमान्य रहते थे वह आज तक सुरक्षित है यद्यपि उसमें फेरबदल किया गया है और बड़ा बनाया गया है। हमारे अपने वार्ड की तरह वह लकड़ी के तख्तों से बना है जिसमें गर्मी में लू और धूप से, वर्षा में पानी से, शीत ऋतु में सर्दी से तथा सभी ऋतुओं में धूलभरी हवाओं से बचाव नहीं हो पाता। मेरे यहां पहुंचने के कुछ ही क्षण बाद मुझे उसे वार्ड का परिचय दिया गया। मुझे यह बात अच्छी नहीं लग रही थी कि मुझे भारत से निष्कासित कर दिया गया था लेकिन मैंने भगवान को धन्यवाद दिया कि मांडले में अपनी मातृभूमि और स्वदेश से बलात अनुपस्थिति के बावजूद मुझे पवित्र स्मृतियां राहत और प्रेरणा देंगी। ऐसी अन्य जेलों की तरह यह जेल भी कुरूप, नीरस और अरुचिकर है लेकिन मेरे लिए यह एक ऐसा तीर्थस्थल है जहां भारत का एक महानतम सपूत लगातार छह वर्ष तक रहा था।

हम सभी जानते हैं कि लोकमान्य ने कारावास में छह वर्ष बिताए। लेकिन मुझे विश्वास है कि बहुत कम लोगों को यह पता होगा कि उस अवधि में उन्हें किस हद तक शारीरिक और मानसिक यंत्रणाओं से गुजरना पड़ा था। वे यहां एकदम अकेले रहे और उन्हें कोई बौद्धिक स्तर का साथी नहीं मिला। मुझे विश्वास है कि उन्हें किसी अन्य बंदी से मिलने-जुलने नहीं दिया जाता था। उनको सांत्वना देने वाली एकमात्र वस्तु किताबें थीं और वे एक कमरे में एकदम एकाकी रहते थे। यहां रहते हुए उन्हें

सुभाष चन्द्र बोस

दो या तीन भेंटों से अधिक का मौका नहीं दिया गया। और ये भेंटें भी पुलिस और जेल अधिकारियों की उपस्थिति में हुई होंगी जिससे वे कभी भी खुलकर और हार्दिकता से बात नहीं कर पाए होंगे।

उन तक कोई भी अखबार नही पहुंचने दिया जाता था। उनकी जैसी प्रतिष्ठा और स्थिति वाले नेता को बाहरी दुनिया के घटनाचक्रों से एकदम अलग कर देना एक तरह की यंत्रणा ही है ओर इस यंत्रणा को जिसने भुगता है वही जान सकता है। इसके अलावा उनके कारावास की अधिकांश अवधि में देश का राजनैतिक जीवन बहुत मंदगति से खिसक रहा था और इस विचार ने उन्हें कोई संतोष नहीं दिया होगा कि जिस उद्देश्य को उन्होंने अपनाया था वह उनकी अनुपस्थिति में आगे बढ़ रहा है।

उनकी शारीरिक यंत्रणा के बारे में जितना ही कम कहा जाए, बेहतर होगा। वे दंडसंहिता के अंतर्गत बंदी थे और इस प्रकार आज के राजबंदियों की अपेक्षा कुछ मायनों में उनकी दिनचर्या कहीं अधिक कठोर रही होगी। इसके अलावा उन्हें मधुमेह की बीमारी थी। जब लोकमान्य यहां थे, मांडले का मौसम तब भी प्रायः ऐसा ही रहा होगा जैसा वह आजकल है। और अगर आज नौजवानों को शिकायत है कि वहां का जलवायु शिथिल कर देने वाला और मंदाग्नि तथा गठिया को जन्म देने वाला है और धीरे धीरे पर अटूट रूप में वह व्यक्ति की जीवनी-शक्ति को सोख लेता है, तो लोकमान्य ने, जो वयोवृद्ध थे, कितना अधिक कष्ट झेला होगा।

लेकिन इस कारागार की चहारदीवारियों में उन्होंने क्या यातनाएं सहीं, इसके विषय में लोगों को बहुत कम जानकारी है।

कितने लोगों को पता होता है उन अनेक छोटी छोटी बातों का जो किसी बंदी के जीवन में सूइयों की सी चुभन बन जाती हैं और जीवन को दूभर बना देती हैं। वे गीता की भावना में मग्न रहते थे और शायद इसीलिए दुख और यंत्रणाओं से ऊपर रहते थे। यही कारण है कि उन्होंने उनके बारे में किसी से कभी एक शब्द भी नहीं कहा।

समय समय पर मैं इस सोच में डूबता रहा हूं कि कैसे लोकमान्य को अपने बहूमूल्य जीवन के छह लंबे वर्ष इन परिस्थितियों में बिताने के लिए विवश होना पड़ा था और हर बार मैंने अपने आपसे पूछा कि "अगर नौजवानों को इतना कष्ट महसूस होता है तो महान लोकमान्य को अपने समय में कितनी पीड़ा सहनी पड़ी होगी, जिसके विषय में उनके देशवासियों को कुछ भी पता नहीं रहा होगा।" यह विश्व भगवान की कृति है लेकिन जेलें मानव के कृतित्व की निशानी हैं। उनकी अपनी एक अलग ही दुनिया है और सभ्य समाज ने जिन विचारों और संस्कारों को प्रतिबद्ध होकर स्वीकार किया है वो जेलों में लागू नहीं होते। अपनी आत्मा के ह्रास के बिना बंदी-जीवन के प्रति अपने आपको अनुकूल बना पाना आसान काम नहीं है। इसके लिए हमें पिछली आदतें छोड़नी होती हैं और फिर भी स्वास्थ्य और स्फूर्ति बनाए रखनी होती है, सभी तरह के नियमों के आगे नत होना होता है और फिर भी आंतरिक प्रफुल्लता अक्षुण रखनी होती है। दास-वृत्ति ठुकरानी होती है और फिर भी मानसिक संतुलन अडिग बनाए रखना होता है। केवल लोकमान्य जैसा दार्शनिक ही, जिसे अदम्य इच्छाशक्ति का वरदान मिला था, उस बंदी जीवन के शक्ति हननकारी प्रभावों से बच सकता था, उस यंत्रणा और

दासता के बीच मानसिक संतुलन बनाए रख सकता था और गीता भाष्य जैसे विशाल एवं युग-निर्माणकारी ग्रंथ का प्रणयन कर सकता था।

अगर किसी को प्रत्यक्ष अनुभव पाना है कि इतने ज्यादा प्रतिकूल, शक्तिहारी और दुर्बल बना लेने वाले वातावरण में लोकमान्य के गीता भाष्य जैसे प्रकांड पांडित्यपूर्ण एवं महान ग्रंथ की रचना करने के लिए कितनी प्रबल इच्छाशक्ति, साधना की गहराई एवं सहनशीलता अपेक्षित है, तो उसे जेल में आकर रहना चाहिए। जहां तक मेरी अपनी बात है, मैं जितना ही इस विषय में चिंतन करता हूं उतना ही ज्यादा मैं उनके प्रति आदर और श्रद्धा में डूब जाता हूं। आशा करता हूं कि मेरे देशवासी लोकमान्य को महत्ता को आंकते हुए इन सभी तथ्यों को भी दृष्टिपथ में रखेंगे। जो महापुरुष मधुमेह से पीड़ित होने के बावजूद—इतने सुदीर्घ कारावास को झेलता गया और फिर भी जिसने अपनी समस्त बौद्धिक क्षमता एवं संघर्ष-शक्ति को अक्षुण बनाए रखा और और जिसने उन अंधकारमय दिनों में अपनी मातृभूमि के लिए ऐसी अमूल्य भेंट तैयार की उसे विश्व के महापुरुषों की श्रेणी में प्रथम पंक्ति में स्थान मिलना चाहिए।

लेकिन लोकमान्य ने प्रकृति के जिन अटल नियमों से अपने बंदी जीवन के दौरान टक्कर ली थी उनको अपना बदला लेना ही था। और अगर मैं कहूं तो मेरा विश्वास है कि जैसे देशबंधु के शरीरांत का क्रम अलीपुर केंद्रीय कारागार में आरंभ हो गया था वैसे ही लोकमान्य ने जब मांडले को अंतिम नमस्कार किया था तो उनके जीवन के दिन गिने-चुने ही रह गए थे। निस्संदेह यह एक गंभीर दुख का विषय है कि हम अपने महानतम

पुरुषों को इस प्रकार खोते रहे लेकिन मैं यह भी सोचता हूं कि क्या वह दुखद दुर्भाग्य किसी न किसी प्रकार टाला नहीं जा सकता था।

आदरपूर्वक,
आपका स्नेहभाजन,
सुभाष सी. बोस

20-8-25
श्रीयुत् नृसिंह चिन्तामणि केलकर
पूना

2. दिलीप कुमार राय के नाम

मांडले सेंट्रल जेल
2-5-1925

प्रिय दिलीप,

मुझे तुम्हारा 24-3-25 का पत्र पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। वह मुझे इस बार तुम्हारे शब्दों में 'दुहरी छन्नी से छन कर' मेरे पास नहीं पहुंचा जिसकी मुझे और भी खुशी है।

तुम्हारे पत्र ने मेरे मर्म को इतनी गहराई से स्पर्श किया है कि समुचित प्रत्युत्तर के रूप में कुछ लिख भेजना मेरे लिए आसान नहीं है। इसके अलावा मैं जो कुछ भी लिखता हूं उसे सेंसर के हाथों से गुजरना होता है और यह भी उत्साह को ठंडा करने वाला है। कारण यह है कि कोई भी यह देखना नहीं पसंद करता कि उनके गहनतम हार्दिक उद्‌गारों पर दिन की खुली रोशनी पड़े और

ऐरे-गैरे पंचकल्याणी लोग उनकी छान-बीन करने बैठें। इसलिए, पत्थर की दीवारों और जेल की सींखचों में बंद मैं आज जो कुछ सोच रहा हूं, जो कुछ अनुभव कर रहा हूं, उसका अधिकांश हमेशा के लिए शब्दातीत रहेगा।

तुम्हारे जैसे संवेदनशील व्यक्ति के लिए यह बिलकुल स्वाभाविक है कि तुम इस बात पर क्षोभ महसूस करो कि इतने अधिक व्यक्तियों को अज्ञात आरोपों के लिए जेल में ठूंस दिया गया है। लेकिन चूंकि हमं इसको एक तथ्य के रूप में स्वीकार करना ही है, इसलिए हमें क्यों न इस विषय को आध्यात्मिक दृष्टि से देखें ?

मैं यह नहीं कह सकता कि मैं जेल में रहना पसंद करूंगा क्योंकि वैसा कहना विशुद्ध बकवास होगी। इस जेल का संपूर्ण वातावरण ऐसा है कि वह आदमी को आदमी नहीं रहने देता, उसे विकृत बना देता है। और मैं समझता हूं कि यह बात कमोबेश सभी जेलों पर लागू होती है। मैं समझता हूं कि अधिकांश बंदी कारागार में रहते हुए नैतिकता से गिर जाते हैं। इतनी अधिक जेलों में मेहमानदारी करने के बाद मुझे स्वीकार करना होगा कि बंदी जीवन में आमूल-चूल सुधार करने की तत्काल आवश्यकता है और भविष्य में मैं अपना यह दायित्व समझूंगा कि ऐसे सुधार लाने में सहायक बनूं। भारतीय जेलों से संबद्ध नियम एक बुरे नमूने का बुरा अनुकरण हैं—यह नमूना है ब्रिटिश जेलों का और स्वयं कलकत्ता विश्वविद्यालय लंदन का एक बुरा अनुकरण है।

जिस बात की सबसे ज्यादा जरूरत है, वह है एक नया दृष्टिकोण जो बंदी के प्रति सहानुभूति पर आधारित है। उसकी गलत वृत्तियों को मानसिक विकृति का चिह्न मानना चाहिए और

तदनुसार उपाए खोजे जाने चाहिए। जेल के उपायों के पीछे प्रेरणा सजा देने की होती है जिसकी जगह सच्चे सुधार की प्रेरणा को नया मार्गदर्शन बनना चाहिए।

मैं नहीं समझता कि अगर मैं खुद जेल में बंदी के रूप में न रहा होता तो बंदी के प्रति सच्ची सहानुभूति की दृष्टि विकसित कर पाता। और मुझे रत्ती भर भी संदेह नहीं है कि अगर हमारे कलाकारों और साहित्यकारों को बंदी जीवन का कुछ नया अनुभव हो सके तो वे अनेक प्रकार से लाभान्वित होंगे। काज़ी नज़रूल इस्लाम ने जेल में रहकर जो प्रत्यक्ष और सजीव अनुभव प्राप्त किया था उसके कारण उनकी कविता को कितनी समृद्धि मिली, इसको हम शायद महसूस नहीं कर पाते।

जब मैं शांत भाव से सोचने बैठता हूं तो मुझे अपने भीतर यह आश्वस्ति मिलती है कि हमारे उत्तापों ओर हताशाओं की तह में कोई महान उद्देश्य सक्रिय है। अगर यह आश्वस्ति हमारे सचेत जीवन के प्रत्येक क्षण की अनुभूति बन सके तो क्या हमारी पीड़ा अपनी कसक खो नहीं देगी और क्या तहखाने में बंद होकर भी हम चरम आनंद की अनुभूति नहीं कर सकेंगे ? लेकिन सामान्यतः यह अभी संभव नहीं है। इसीलिए आत्मा और शरीर के बीच वर्तमान द्वंद्व-युद्ध जारी रहेगा ही।

आमतौर पर एक प्रकार का दार्शनिक रुझान बंदीगृह के परिवेश में हमारे हृदय में बल का संचार करता है। जो भी हो, मैं अपने आपको उक्त स्थिति में पाता हूं और मैंने दर्शनशास्त्र का जो कुछ भी थोड़ा-बहुत अध्ययन किया है उसने जीवन के संबंध में मेरी धारणा के साथ जुड़कर यहां मेरे प्रवास को सह्य ही बनाया है। अगर किसी व्यक्ति के पास चिंतन-मनन के लिए

यथेष्ट विषय हों तो उसका कारावास, अगर उसका स्वास्थ्य जवाब न दे जाए तो, उसे कोई भी चोट नहीं पहुंचा सकता। लेकिन हमारी पीड़ा केवल आध्यात्मिक नहीं है और यही हमारी विवशता है क्योंकि शरीर भी इस प्रक्रिया में संलग्न होता है जिससे आत्मा का रुझान अगर किसी दिशा में हो तो संभव है कि शरीर उसका साथ न दे पाए।

लोकमान्य तिलक ने अपना गीता का भाष्य कारावास के दौरान लिखा था। मैं निश्चय के साथ कह सकता हूं कि उन्होंने अपने दिन मानसिक प्रसन्नता में बिताए। लेकिन इतना ही निश्चित यह तथ्य भी है कि उनके असामयिक देहावसान का कारण यह भी था कि उन्हें छह वर्ष तक मांडले जेल में रहना पड़ा।

लेकिन एक बंदी को जिस प्रकार थोपे गए एकांत में अपने दिन बिताने पड़ते हैं उसके कारण उसे जीवन की चरम समस्याओं पर विचार करने का मौका मिलता है। जो भी हो, अपने बारे में मैं यह दावा कर सकता हूं कि बहुत से अत्यंत जटिल सवाल, जो हमारे वैयक्तिक और सामूहिक जीवन में भंवर की तरह चक्कर काटते रहते हैं, धीरे धीरे समाधान की दिशा में बढ़ रहे हैं। अतीत में मैं जिन बातों को पहेली की तरह कठिनाई से सुलझा पा रहा था, या जिन विचारों को केवल स्थापनाओं के तौर पर रख पाता था वे अब दिनोंदिन अधिकाधिक स्पष्टता ग्रहण करते जा रहे हैं। अगर अन्य किसी कारण से नहीं तो कम से कम उक्त कारण से मैं अनुभव करता हूं कि कारावास के द्वारा मैं आध्यात्मिक दृष्टि से लाभान्वित होऊंगा।

आपने मेरी नजरबंदी को शहादत की संज्ञा दी है। यह महज

इस बात का प्रमाण है कि आपकी प्रकृति में सहानुभूति का गहरा पुट है और आपका हृदय विशाल है। लेकिन चूंकि मुझमें मैं आशा करता हूं कि—कुछ विनोद प्रियता और संतुलन है, अतः मैं शहादत की महान पदवी कैसे धारण करूं ? अहमन्यता और गरूर के प्रति मैं सोते-जागते सावधान रहना चाहता हूं। इसमें मुझे कितनी सफलता मिलती है, इसका निर्णय मेरे मित्रों को करना है। जो भी हो, जहां तक मेरा संबंध है, शहादत एक आदर्श ही हो सकता है।

मैंने महसूस किया है कि जिस बंदी को कारावास में लंबा समय बिताना होता है उसके लिए सबसे दुखद तथ्य यह है कि उसे बुढ़ापा अनजाने में ही आ दबोचता है। इसलिए उसे विशेष सावधान रहने की जरूरत है। आप कल्पना नहीं कर सकते कि जो व्यक्ति लंबी सजा काट रहा है कि वह किस प्रकार असमय में ही शरीर और मन से जर्जर हो जाता है। निस्संदेह इसके लिए अनेक कारण जिम्मेवार हैं, जैसे अच्छे भोजन और व्यायाम तथा अन्य सुविधाओं का अभाव; अलगाव, बलात अधीनता का अहसास, मित्रों की कमी, और अंतिम, संगीत जैसी महत्वपूर्ण चीज का अभाव। कुछ रिक्तताओं को व्यक्ति आंतरिक रूप में भर सकता है। अगर इनसे किसी को वंचित कर दिया जाए तो यह स्थिति बहुत कुछ असमय वृद्धता का कारण बनती है। अलीपुर जेल में यूरोपीय बंदियों के लिए प्रति सप्ताह संगीत का प्रबंध किया जाता है, यहां हमारे जैसों के लिए ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है। मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि किसी बंदी के लिए उसके मित्रों और सगे संबंधियों की सदिच्छा और सहानुभूति उसकी जीवन-यात्रा का बहुत बड़ा संबल होता है।

यद्यपि ऐसे व्यवहार का प्रभाव सूक्ष्म और आंतरिक होता है, तथापि जब मैं आत्म-विश्लेषण करता हूं तो पाता हूं कि वह तनिक भी अयथार्थ नहीं है। राजनैतिक बंदी और साधारण कैदी के जीवन की कठोरता के बीच एक अंतर है। राजनैतिक कैदी आश्वस्त होता है कि जब वह कारावास से वापस जाएगा तो समाज उसको हाथों-हाथ लेगा, लेकिन सामान्य कैदी के बारे में ऐसा नहीं है। मुझे यह वस्तुस्थिति संतोषप्रद नहीं लगती। आखिर कोई सभ्य समुदाय इन दुखी लोगों के लिए क्यों न सहानुभूति महसूस करे ?

बंदी जीवन के अपने अनुभवों के बारे में मैं अपने विचार उड़ेलते हुए पन्ने पर पन्ने रंगता जा सकता हूं। लेकिन एक पत्र का कहीं न कहीं उपसंहार करना होता है। अगर मुझ में अतिरिक्त पहल करने की ताकत बची होती तो मैं भारतीय जेलों के बारे में एक पूरी पुस्तक लिखता। लेकिन इस समय तो ऐसा कोई काम हाथ में लेने का बूता मैं अपने में नहीं पाता।

मेरा यह विचार है कि जेल जीवन का कष्ट शारीरिक से ज्यादा मानसिक है। जब अपमान और अवमानना के आघात अधिक निर्मम नहीं होते तो बंदी जीवन की पीड़ाओं को सहना अधिक कठिन नहीं होता। लेकिन वे ऐसे आघात पहुंचाकर जो हमें अपने कुंठाजनक एवं अवसादपूर्ण परिवेश के प्रति सजग रखें, हमें याद दिलाते रहते हैं कि हमें अपने बाह्य अस्तित्व को चटपट भुलाकर अंदर की आदर्श आनंददाई दुनिया में नहीं खो जाना है।

आपने लिखा है कि यह सोच कर आपका मन अधिकाधिक अवसाद से भर उठता है कि किस प्रकार हमारी धरती ऊपर से

भीतर तक मानवता के आंसुओं से गीली है। लेकिन ये सभी विषाद और कष्ट के ही आंसू नहीं हैं : इनमें करुणा और स्नेह के अश्रुबिंदु भी शामिल हैं। अगर आपको विश्वास हो कि आनंद के समृद्ध ज्वार अंततः आपकी प्रतीक्षा में हैं, तो क्या आप कष्ट और पीड़ा के संकुल मार्गों से होकर गुजरने से बचना चाहेंगे ? जहां तक मेरा सवाल है, मुझे निराशा या पस्तहिम्मती का कोई कारण नहीं दिखाई देता। इसके विपरीत मैं यह महसूस करता हूं कि दुख और कष्टों से हमें प्रेरणा मिलनी चाहिए कि हम उच्चतर पूर्णता के लिए साहस बटोर कर आगे बढ़ें। क्या आप सोचते हैं कि अगर कोई चीज हमें बिना कष्ट और संघर्ष के मिल जाती है तो उसका कोई स्थायी मूल्य होगा ?

आपकी भेजी पुस्तकें मुझे मिल गई हैं। मैं इन्हें वापस नहीं कर पाऊंगा क्योंकि यहां उन्हें पढ़ने वालों की संख्या काफी है। कहने की शायद आवश्यकता नहीं कि अगर ऐसी और भी पुस्तकें मिल सकें तो उनका स्वागत होगा। वैसे भी तुम्हारा चुनाव सदा ही सुंदर होता है।

सस्नेह,

सुभाष

3. शरत चन्द्र बोस के नाम

(सेंसर और पास किया गया)
अस्पष्ट
13-3-27
कृते डी.आई.जी., आई.बी., सी.आई.डी.
बंगाल

इनसीन जेल
6 मई, 1927

प्रिय भाई,

मेरी हिम्मत एक लंबा पत्र लिखने की नहीं हो रही है और इसके लिए पर्याप्त शक्ति आने तक मुझे प्रतीक्षा करनी होगी। सरकार के प्रस्ताव के बारे में मेरी बड़ा दादा से लंबी और दिल खोलकर बातचीत हुई और उन्होंने मेरे सभी विचारों से आपको अवगत करा दिया होगा। एक निजी मुलाकात का अवसर दिए जाने की मैं बहुत कद्र करता हूं और इस सौजन्य के लिए मैं माननीय गृह सदस्य का हृदय से आभारी हूं। अभी तक मेरे साथ जैसा व्यवहार किया जाता रहा है, उससे हटकर किया गया यह व्यवहार स्वागत योग्य है।

बड़ा दादा ने 27 अप्रैल को (यहां से रवाना होने से एक दिन पहले) बंगाल सरकार का जो उत्तर मुझे सूचित किया, उसने प्रश्न को दोनों पक्षों के लिए और स्पष्ट कर दिया है। वर्तमान स्थिति का जायजा लेते हुए मुझे कहना है कि मैं अपने उस रवैये को फिर से दोहराता हूं जो मैंने सरकार के प्रस्ताव के उत्तर में 11 अप्रैल को अपनाया था।

मेरा निर्णय जीवन के प्रति मेरे दृष्टिकोण का सीधा परिणाम है और जरा ज्यादा गहराई से किया गया विचार उसकी पुष्टि ही करता है। जेल में मैं जितने ही ज्यादा दिन बिता रहा हूं उतना ही मेरा यह विश्वास दृढ़ होता जाता है कि इस संसार में चल रहे संघर्षों की तह में विचारों का ही संघर्ष है—मिथ्या विचारों और सत्य विचारों के बीच संघर्ष, या जैसा कि कुछ लोग कहना चाहेंगे, वास्तविकता के विभिन्न स्तरों के बीच या सत्य के विभिन्न स्तरों के बीच के संघर्ष हैं। विचार व तत्व हैं जिनसे मानव आंदोलनों का निर्माण होता है, और वे विचार निश्चल नहीं बल्कि गतिशील हैं, आक्रामक हैं। वे उतने ही गतिशील हैं जितना कि हीगेल का 'एब्सोल्यूट आइडिया' है, हार्टमैन और शापेनहावर की 'ब्लाइंड विल' है अथवा हेनरी बर्गसां का 'इलान वाइटल' है। विचार अपनी नियति का निर्माण स्वयं करते हैं और हम, जो मात्र मिट्टी के लोंदे हैं, जिसके अंदर दिव्य अग्नि के स्फुल्लिंग छिपे हुए हैं—हमें बस इन विचारों के ऊपर अर्पित हो जाना है। इस प्रकार समर्पित जीवन हमारे भौतिक और शारीरिक अस्तित्व के उतार-चढ़ावों के बावजूद अपनी पूर्णता प्राप्त कर लेता है। मैं जिन विचारों के लिए खड़ा हूं उनकी अंतिम विजय में मेरा विश्वास अडिग है और इसीलिए मैं अपने स्वास्थ्य और भविष्य की संभावनाओं के विचार से उद्विग्न नहीं हूं।

मैंने सरकार को लिखे अपने पत्र में अपने दृष्टिकोण को बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में बता दिया है, और इसके बाद किसी कुतर्क की गुंजाइश नहीं है। मुझे दुख है कि आलोचकों ने कहा है कि मैं बेहतर शर्तों के लिए सौदेबाजी कर रहा हूं। मैं दूकानदार नहीं हूं और सौदेबाजी नहीं करता। कूटनीति के फिसलन भरे पथ से

मैं घृणा करता हूं क्योंकि यह मेरे स्वभाव के साथ मेल नहीं खाता। मैंने एक सिद्धांत के ऊपर यह फैसला किया है और बात यहीं खत्म हो जाती है। मैं अपने शारीरिक जीवन को इतना महत्व नहीं देता कि मैं सौदेबाजी के जरिए उसे बचाने की कोशिश करूं। मूल्यों के बारे में मेरी धारणा बाजारू धारणा से कुछ भिन्न है और मैं नहीं मानता कि जीवन में सफलता या विफलता का निर्धारण शारीरिक या भौतिक मानदंडों से किया जाना चाहिए। हमारी लड़ाई शारीरिक लड़ाई नहीं है और न यह किसी भौतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही है। जैसा कि संत पॉल ने कहा था, "हर मनुष्य के विरुद्ध नहीं बल्कि सामंतशाही के विरुद्ध, सत्ता के विरुद्ध, इस संसार के अंधकार के शासकों के विरुद्ध, उच्च स्थानों पर अध्यात्मिक बुराइयों के विरुद्ध लड़ रहे हैं।" हम स्वतंत्रता और सत्य के लिए खड़े हैं, और जिस प्रकार रात के बाद दिन का आना सुनिश्चित है, उसी प्रकार हमारे सिद्धांतों की विजय होगी। हमारे शरीर गिर कर नष्ट हो सकते हैं, लेकिन यदि आस्था अडिग और इच्छा अजेय हो तो विजय हमारी होगी। इस बात का निर्धारण परमात्मा करेगा कि हममें से कौन लोग हमारे इन तमाम प्रयत्नों और हमारे श्रम को फलीभूत होते देख सकेंगे। जहां तक मेरा प्रश्न है मैं अपना जीवन जी कर और शेष सब कुछ प्रारब्ध के हाथों छोड़कर संतुष्ट हूं।

समाप्त करने से पहले एक शब्द और। इस समय मेरे लिए यह तय करना संभव नहीं है कि मुझे (इलाज के लिए) स्विट्जरलैंड जाना चाहिए या नहीं। इस समय मैं स्विट्जरलैंड की यात्रा करने में शारीरिक रूप से असमर्थ हूं और मुझे भारत में ही किसी स्वास्थ्यप्रद स्थान पर आरंभिक चिकित्सा कराने की जरूरत है।

इस प्रारंभिक इलाज के कितने दिन बाद मुझे विदेश यात्रा कर सकने योग्य समझा जाएगा—मैं नहीं जानता। एक चीज निश्चित है—जब तक मेरा स्वास्थ्य काफी कुछ सुधर नहीं जाता, तब तक डाक्टरों की राय के अनुसार स्विट्जरलैंड की यात्रा का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अलावा, भारत के किसी स्वास्थ्यप्रद स्थान में रहते हुए यदि मेरा स्वास्थ्य खूब अच्छी तरह सुधर जाता है तो शायद मेरे बाहर जाने की जरूरत ही न रह जाए—हां, यह अलग बात है कि मैं स्वैच्छिक देश-निकाला ही स्वीकार न कर लूं। फिर, आर्थिक प्रश्न भी है—मुझे अपनी जेब भी देखनी पड़ेगी जो बहुत ज्यादा भरी हुई नहीं है। मुझे अपने परिवार के सदस्यों की, विशेष रूप से अपने माता-पिता की राय भी लेनी होगी—इससे पहले कि मैं अनिश्चित काल के लिए अपना घर और अपना देश छोड़ने का निर्णय करूं। भारत की राजनीतिक स्थिति अगले कुछ महीनों में बदल सकती है और हो सकता है कि बंगाल सरकार स्वेच्छा से ही अपने दृष्टिकोण को बदलना चाहे। मैं कोई अंतिम निश्चय करूं, उससे पहले इन सारी बातों को भी सावधानी के साथ तोलना जरूरी है। इन सब से ऊपर मैं अपनी पसंद निर्धारित करूं उससे पहले मैं स्वतंत्रता महसूस करना चाहूंगा, और मैं यह नहीं पसंद करूंगा कि जल्दीबाजी में मुझसे अपने देश-निकाले के वारंट पर हस्ताक्षर करा लिए जाएं। यदि स्विट्जरलैंड में मेरा अनिवार्य रूप से रहना सरकार की दृष्टि में एक आवश्यक शर्त है तो आप सारी समझौता-वार्ता को तोड़ने में तनिक भी न झिझकें। ईश्वर महान है और निश्चय ही अपने गढ़े हुए खिलौने से—मनुष्य से—ज्यादा महान है, और यदि हम उस पर विश्वास रखेंगे तो हम पर कोई दुख नहीं आ सकता।

मुझे यह सोचकर दुख होता है कि मेरे कारण कितने प्रेममय और सहानुभूति पूर्ण हृदयों को इतना दुख और चिंता झेलनी पड़ रही है। लेकिन मैं यह सोचकर खुद को सांत्वना दे लेता हूं कि एक समान मातृभूमि में (मैं पितृभूमि नहीं कहूंगा) विश्वास रखने वाले लोगों को, एक समान विरासत के भागीदार लोगों को अपने हर्ष और शोक को बांटना ही पड़ेगा।

आशा है आप सब सकुशल होंगे।

अत्यंत स्नेहपूर्वक आपका

सुभाष

श्री एस.सी. बोस,

38/1, एल्गिन रोड, कलकत्ता

वीर विनायक सावरकर का पत्र

जेल कोठरी
15-2-1914
पोर्ट ब्लेअर

प्रियवर 'बाल'

आओ भाई, एक वर्ष व्यतीत हो जाने पर सुख की घड़ी आई है। कारावास में रहनेवाला व्यक्ति घर से आए पत्र अथवा घर को चिट्ठी लिखने में कितना आत्मिक आनंद पाता है ! यह कार्य इतना प्यारा तथा इतना मधुर है, मानो समुद्र के किनारे छिटकी हुई चांदनी में अपने प्रियतम के साथ बातचीत कर रहा हूं। लेकिन ठहरो भाई, घंटी बज रही है और मुझे भोजन के लिए जाना चाहिए।

मैं कारावास के साथियों के साथ भोजन करके लौट आया हूं। हां, मैंने कहा था कि घर को पत्र भेजने का दिन मधुर होता है। मेरे लिए तो वह सदा नव-वर्ष-दिन जैसा है। मैं तो अपना वर्ष उसी दिन से गिनता हूं, क्योंकि उसी दिन अपने प्रिय व्यक्तियों के मिलन से मुझे नई शक्ति और नए उत्साह की प्राप्ति होती है, जिसके कारण मैं एक वर्ष तक और हंसते-खेलते जिंदगी बिता सकता हूं। मुझे खेद है कि मैंने इससे पूर्व तुम्हें पत्र नहीं लिखा और तुम्हें तार देने का कष्ट उठाना पड़ा। यहां के अधिकारी वर्ग

विनायक दामोदर सावरकर

ने कृपा करके तार के समाचार को मुझ तक पहुंचा दिया। परंतु भाई यद्यपि एक वर्ष व्यतीत हो चुका था, मुझे पत्र लिखने का अधिकार भी था, तथापि हमारे डाक-विभाग की विचित्रता यह है कि लिखने के पांच छह सप्ताह बाद यहां से पत्र कलकत्ता पहुंचता है। इसी कारण से 14 महीने तक पत्र नहीं पहुंच पाता। परंतु तुम्हारा भेजा हुआ पत्र इस बीसवीं शताब्दी की डाक-पद्धति के अनुसार शीघ्र ही पहुंच जाता है। तुम्हारे पत्र द्वारा यह जानकर प्रसन्नता हुई कि तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छा है और तुमने सम्मान सहित सफलता प्राप्त की है। परीक्षा में सफलता मिले या न मिले, पर अपने स्वास्थ्य को न बिगाड़ना ! मैं चाहता हूं कि तुम हृष्ट-पुष्ट, तेजस्वी, चुस्त और मजबूत बनो। यौवनावस्था का प्रथम प्रकाश तुम्हारे लिए उदित हो रहा है। इसी अवस्था में जीवन और शक्ति का प्रवाह होता है। इसलिए इस अवस्था को, अधिक काम करके अथवा शरीर के एक भाग का अधिक उपयोग करके, दूसरे को बिगाड़ मत देना। शरीर और मस्तिष्क की समान वृद्धि होनी चाहिए। तुम स्वयं डाक्टर हो और मुझ-जैसे अशास्त्रज्ञ को तुम्हें अच्छा स्वास्थ्य रखने के लिए कहना कुछ असंगत-सा है। पर भैया, यौवन अंधा होता है। हम प्रायः यौवन में प्रवाहित होनेवाली जीवन-शक्ति तथा बढ़नेवाले शरीर की शक्ति का संग्रह करना भूल जाते हैं। हमें इस प्रकार से काम करना चाहिए कि वृद्धावस्था के शीतकाल में हम अपनी संगृहीत शक्ति को उपयोग में ला सकें। इसके विपरीत यदि तुम दुर्बल रह गए, तुम्हारी दृष्टि कमजोर हो गई या तुम बेंत की मदद लेने लगे तो मुझे कहना पड़ेगा, 'वैद्यराज, आप अपना इलाज कीजिए !' (हां, मन ही मन में हंसो मत !) मैं वैद्य नहीं हूं इसीलिए मेरी आंखें बिगड़ी हुई हैं। तो भी कुछ

चिंता नहीं, क्योंकि सभी कानूनदानों (वकीलों) की आंखें बिगड़ी होती हैं (वीर सावरकर स्वयं बैरिस्टर थे); नहीं हों तो होनी चाहिए। मुझे इस बात का गर्व है कि मेरे कुछ साथी बी.ए. और एम.ए. में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए हैं। यह अच्छी बात है ! इससे अच्छी बात तो तब होगी जब कर्तव्य क्षेत्र में वे अच्छी तरह युद्ध कर लेंगे, उसे जीत लेंगे; जब वे उस क्षेत्र के स्वर्ण-पदक की प्राप्ति के योग्य समझे जाएंगे और पुरस्कृत किए जाएंगे। मानवी जगत के उस विशाल संगठन द्वारा प्राप्त स्वर्ण पदकों के सामने विश्वविद्यालयों का स्वर्ण-सत्कार तुच्छ है ! उन साथियों में से कइयों के पत्रों की मुझे प्रतीक्षा है क्योंकि आज भी मैं उन्हें नहीं भूला हूं। जो लोग स्वेच्छा से तुम्हें कहें, उनके नाम और उनके संबंध की विशेष बातें मुझे लिख भेजना।

तुम्हारे द्वारा भेजी पुस्तकें अच्छी हैं। 'महात्मा-परिचय' का अनुवाद कितना सुंदर हुआ ! दो पंक्तियों की भूमिका भी कितनी विनय-पूर्ण एवं यथातथ्य है—"धनी का माल है मैंने भंडार तोड़कर निकाला है। मैं तो बोझ उठानेवाला मजदूर हूं।" इसे मैंने बहुत पसंद किया। 'जाईचा मंडप' के दस-बारह पृष्ठ पढ़ने पर उसकी प्रत्येक पंक्ति का प्रत्येक शब्द मेरे हृदय की धड़कन से एकतान होकर धड़कने लगा। मैं जानता हूं, इसका लेखक कौन हो सकता है। पुस्तक में जो भाव प्रदर्शित किए गए हैं, भाषा भी उनके अनुरूप है। भाव भी कवित्वपूर्ण एवं उत्कृष्ट हैं, विषय के योग्य हैं, और विषय इन दोनों के अनुरूप है। मैं चाहता हूं 'भारत गौरव-ग्रंथ माला' जैसी लोकप्रिय पुस्तकमालाएं अपनी लोक-नेतृत्व की जिम्मेदारी समझें और लोगों की तरंग को ही खुश न करें। हल्की चीजें लोग जल्दी पसंद करते हैं परंतु जिम्मेवार लोगों को

अपना दायित्व निभाना है। समय समय पर राजनीति, इतिहास, विज्ञान और अर्थशास्त्र आदि विषय के ग्रंथ, जैसे जान स्टुअर्ट मिल का 'प्रतिनिधिक शासन' आदि प्रकाशित करें। परंतु वेदांत-संबंधी ग्रंथों के संबंध में मेरा विचार है कि हम-जैसे आदमियों को ऐसी पुस्तकों में लगे रहने का यह समय नहीं है। अमरीकावासियों को वेदांत-चर्चा की आवश्यकता है, इंग्लैंड को भी है, क्योंकि उन्होंने अपना जीवन पूर्णतः संपन्नता और वीरता-युक्त बनाया है, क्षत्रियत्व-प्राप्ति की है और इसलिए वे उस ब्राह्मणत्व के द्वार पर खड़े हुए हैं। जिसमें ऐसी अध्यात्म-चर्चा पढ़ने का और अनुभव करने का कार्य साथ साथ करने की योग्यता रहती है। हिंदुस्तान में वह योग्यता नहीं है। हम सब इस समय शूद्र हो रहे हैं और वेद या वेदांत के पठन का हमें अधिकार नहीं है।

शूद्रों के लिए वेदों का अधिकार न रखने का मूल कारण यही है। निश्चय जानो कि निर्दयता, संकीर्ण-हृदयता अथवा स्व-हित-रक्षा के लिए ये शूद्र अलग नहीं रखे गए हैं, अन्यथा वे ही ब्राह्मण अध्यात्म-विद्या को अधिक सरलता से समझाने वाले पुराणों की रचना न करते। समस्त राष्ट्र की दृष्टि से हम लोग इन उच्च विचारों के योग्य नहीं हैं, क्योंकि प्रसिद्ध है कि द्वितीय बाजीराव पेशवा बड़े वेदांती थे और शायद इसी कारण वे राज और पेंशन में अंतर न समझ पाए। हमें इतिहास, राजनीति, विज्ञान, अर्थशास्त्र आदि का अध्ययन करना चाहिए। इस संसार में योग्यता के साथ रहना चाहिए। गृहस्थ-आश्रम के कर्तव्यों की पूर्ति करें ओर उसके बाद ही वानप्रस्थाश्रम और तत्संबंधी तत्व-चर्चा को प्रारंभ करें। इन ग्रंथों का प्रयोजन कुछ भी हो, इनको लिखने का काम विधवाओं, वृद्धों, पेंशनरों एवं प्रत्यक्ष कार्य से अलग रहने वालों के लिए छोड़

देना चाहिए। इन लोगों को पुरातन ग्रंथों तथा ईश्वर, आत्मा और मनुष्य-संबंधी पुरातन पहेलियों में रहने दो। युवकों को भविष्य के जीवन का ध्यान होना चाहिए। वेदांत-चर्चा से क्या लाभ ! बनारस ने आज तक एक भी शहीद पैदा नहीं किया और वे अपने देश के लिए एक पाई भी नहीं दे सकते।

अब कुछ अपने विषय में भी संकेत कर दूं। पिछले वर्ष मुझे कोई बीमारी नहीं हुई। मेरा स्वास्थ्य प्रायः ठीक है और वजन तो जेल में किसी का बढ़ नहीं सकता। किंतु चिंता न करना ! इस छोटी-सी कोठरी के वायुघर में, मैं प्रातः जल्दी उठता हूं। ठीक परिमाण में ठीक समय पर प्राणायाम एवं भोजन करता हूं। वास्तव में ये बातें करनी ही पड़ती हैं। अतएव 'जल्दी उठना जल्दी सोना' इस बात से स्वास्थ्य बना रहा है। अजी भावी डाक्टर साहब ! आप भी अपने बीमारों के लिए इससे बढ़िया समय-विभाग न बना सके। मेरे शरीर का स्वास्थ्य तो अच्छा है ही, पर मन का उससे भी अच्छा है। काम हल्का या भारी—जैसा भी मिलता है—मैं उसको करने के लिए भिड़ जाता हूं और हर समय मन में गुनगुनाता रहता हूं—

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' या
'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदन्ति मानवाः।' अथवा
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः !!' आदि

प्रति सायंकाल को—आजकल मैं ऐसी कोठरी में हूं जिससे आकाश का किंचित भाग दिखाई पड़ता है—सूर्य का उज्वल अस्त तथा प्रकाश और छाया का वैभव मैं देखता रहा हूं और पश्चिम की गुलाबी कमल-जैसी छटा के दृश्य में मैं अपने-आपको भूल

जाता हूं। कभी इस बात का विचार करता हूं, कभी उसका। कभी कवि के साथ कहता हूं—'एकतस्तटतमालिनीम्। पश्य धातुरसनिम्नगामिव' अथवा 'तेन मानिनि ममात्र गौरवम्' और कभी आदर्शवादी तत्वज्ञ के समान गंभीर विचार-लहरों के साथ लहराता हूं। जो कहते हैं कि सभी दृश्यमान प्रेम आत्मगत प्रेम है, कम से कम हम तो उसके सदृश्य बाहरी प्रेमी नहीं हैं, उसे नहीं जानते। मेरा मन पूर्णतया सुखी है, उतना ही सुखी जितना किसी पुरुष या स्त्री के साथ बाहर रहता था। और यदि कभी मेरा मन बालक की तरह मचल जाता है और आंसू बहने लगते हैं, तो बूढ़ी दादी विचारशक्ति आती है, और मुस्कराकर कहती है, "प्यारे ! तुझे क्या हो रहा है ? किस अज्ञात वस्तु से तुझे कष्ट हो रहा है ? क्या नादानी है ? महत्वाकांक्षा के सर्वोच्च शिखर पर आरोहण करने की तेरी इच्छा है न ? वैभव के रथ पर बैठना चाहता है न ? यदि चाहता था, तब तो ठीक हुआ ! तेरा पराजित होना ही ठीक था। ऐसे स्वार्थी अनीतिज्ञ की हार होनी ही उचित थी। मुझे पता है, ईश्वर जानते हैं कि व्यक्तिगत रूप से तुम्हें किसी इनाम की चाह नहीं थी; न नाम की, न यश की, न भूमि की, न धन की, न सुख की। तुम यदि कुछ चाहते थे तो अत्यधिक कष्ट-सहन। कम से कम मेरी उपस्थिति में तो तुम यही कहा करते थे। दूसरों के लिए, मनुष्य मात्र के लिए, तुम अत्यधिक कष्ट उठाना चाहते थे। तब बताओ, निराशा कहां है ? तुम 'यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम्' कह चुके हो। असीम कष्ट उठा रहे हो। समय की सीमा नहीं है। तुम्हारा कोई कार्य, कोई समय ऐसा नहीं बीतता जो तुम्हारी अपनी नृजाति की शुद्धि के लिए कष्ट-सहन में न बीतता हो। तुम्हें तो प्रसन्न होना चाहिए। इससे अधिक तुम कर

ही क्या सकते थे !" यह सुनकर मेरे मन में फिर पंख लग जाते हैं। वह उड़ता है, ऊंचा उठता है और उठता जाता है। पर यदि मन में अहंकार की वृद्धि होती है, तो बूढ़ी दादी इस संसार को दिखलाकर कहती है, "वह हिमगिरि देखो ! एक समय था जब वह वहां नहीं था और एक समय आएगा जब वह वहां नहीं रहेगा। यह चन्द्र और यह सूर्यमंडल और तारामंडली देखो !" तब मेरा छोटा-सा मन दब जाता है, अपने-आपको भूल जाता है, विराट विश्व में विलीन हो जाता है, अपने व्यक्तिगत महत्व एवं स्व-चिंता के लिए लज्जित होता है।

तो प्यारे 'बाल' ! हम दोनों भाई शरीर की पूरी शांति का यहां अनुभव कर रहे हैं। हमारे लिए जरा भी चिंता करने की आवश्यकता नहीं है। व्यक्तिगत रूप से संसार में हमें तृप्त रखनेवाली यदि कोई बात है तो वह तुम्हारा स्वास्थ्य और तुम्हारा कुशल है। यदि तुम इन दोनों का विश्वास दिलाओ अर्थात पूरा प्रयास करो तो हमें परिणाम की चिंता नहीं, हमें तो अत्यधिक सुख होगा। अभी तक तो जेल की कोई छाया हम पर नहीं पड़ी है। हम पर कोई बुरा असर नहीं हुआ है। हमारा स्वास्थ्य यहां की अच्छाई के लिए नहीं, वरन उसके होते हुए भी कायम है। तुमने लिखा कि तुमने अधिकारियों को प्रार्थना-पत्र देकर यहां आने का समय पूछा है। यहां के नियमानुसार, मुझे यहां की जेल-कोठरी से मुक्त किया जाकर द्वीप में रहने की इजाजत मिल जानी चाहिए थी, क्योंकि यहां के अधिकारियों ने मेरे व्यवहार को 'अच्छा' मान लिया है, तथापि हम दोनों छोड़े नहीं गए हैं। मैं सरकार से प्रार्थना कर रहा हूं कि वह इस बात पर विचार करे कि तुम्हें अंडमान आकर भेंट करने की आज्ञा दे, किंतु ऐसा लगता नहीं। तुम्हें जब

हमारे विषय में कुछ जानने की इच्छा हो तब तुम भी यहां के अधिकारियों से पूछताछ किया करो। अलबत्ता थोड़े ही समय बाद बाबा (बड़े भाई) के 5 साल पूरे हो जाएंगे और तब तुम्हें उनसे जेल-नियंम के अनुसार मुलाकात का अधिकार मिल जाएगा। किंतु मुझसे नहीं। वे मेरा अपराध भयंकर मानते हैं। परंतु हमें कोठरी से मुक्त करने या हमारे संबंधियों को हमारे साथ यहां रहने देने की इजाजत देने के संबंध में यहां के अधिकारी कुछ नहीं कर सकते। हां, अन्य अपराधियों के लिए वे सब कुछ कर सकते हैं। इसमें उनका दोष नहीं है। हमारा विचार है कि हमारे विषय में सब आज्ञाएं सीधी भारत सरकार से आती हैं। जब कभी यहां के अधिकारियों से उत्तर न मिले, तब इसके लिए भी तुम भारत-सरकार को ही लिखो। फिर भी तुम हमारे लिए अधिक झंझट में मत पड़ो। हमारा विचार है कि शायद सरकार स्वयं ही, जो उनके हित में होगा वही करेगी। हम भी उसे समय समय पर याद दिलाते रहेंगे। इससे अधिक करना व्यर्थ समय बरबाद करना है। तुम भी अपने स्वास्थ्य और कुशलता की चिंता करो। मैंने तुमसे हाईकोर्ट में जो कुछ कहा था उसे स्मरण कर मुझे प्रसन्नता हुई।

प्यारी यमुना को विश्वास दिला दो कि इन चार वर्षों में नई आशा की किरण निकलेगी। इसलिए उसका श्रेष्ठ हृदय तथा बहिनी का श्रेष्ठ हृदय, धीरज धारण करें। उसी तरह धीरज धरें जिस तरह वे अभी तक कर रही हैं। उन्हें हर तरह का मराठी साहित्य पढ़ने के लिए दो। पौराणिक ग्रंथ ही नहीं, अपितु पूर्व और पश्चिम में प्रकाशित होनेवाले जीवन-स्फूर्ति से भरे हुए, नए वर्तमान समय के जीवन-साहित्य के ग्रंथ भी उन्हें दो। मैंने जब

अपने श्रेष्ठ साथी और बंधु सखाराम (सखाराम गोर्हे 'नासिक षड्यंत्र' केस में अभियुक्त थे। हाईकोर्ट में इन्होंने पुलिस के अत्याचारों का खुला चिट्ठा प्रस्तुत किया था। 5 साल का कारावास मिला—जेल में ही शहीदों-जैसी मृत्यु हुई) की त्यागमयी मृत्यु का समाचार सुना तब गर्व और खेद से मेरा हृदय भर आया। तुम शायद जानते होगे कि हाई स्कूल के जमाने में हम दोनों की मुलाकात हुई थी। सखाराम वीरों की भांति जिए और वीरों की भांति मरे। इससे अधिक अपने लिए कोई क्या चाह सकता है ! उसकी पत्नी जानकी बहिनी (भावज) को मैंने कभी नहीं देखा, पर फिर भी तुम्हारे शब्द-चित्र से उसकी पहचान हो गई। मैं उसके लिए जो कुछ अनुभव करता हूं वह यह है कि वह अभागिनी अथवा गरीबिनी नहीं है वरन अकेले रहकर ही इस संसार में पवित्रतम कर्तव्य करने के लिए पैदा हुई।

पुनश्च :

तुम्हारे संकेत पर तुम्हारी भाभी के लिए दो शब्द लिख दिए हैं।

प्रिय यमुना,

जेल-नियम के अनुसार केवल एक पत्र लिखने की अनुमति है, यह तुम जानती हो। वह बाल को लिखना आवश्यक है, अतः तुमको सीधे पत्र न लिखने की बाधा के कारण अन्यथा लेने का प्रश्न ही नहीं उठता—यह मुझे विश्वास है। तेरी स्मृति तो भुलाए जाने पर भी मानस-पटल पर घूम आती है।

तेरा त्याग एवं धैर्य तो जैसा विदाई के दिन बंबई में कहा था, अद्वितीय है और तुम उसको आधार और मानदंड मानकर

अपने जीवन को धन्य भी मान सकती हो, या सांसारिक विकार प्रबल हों तो अपने को अभागिन भी कहने का तुमको पूरा अधिकार है क्योंकि मैं तुमको निश्चय ही दुख एवं कष्टों के अतिरिक्त कुछ नहीं दे सका, किंतु तुम अपने लिए कौन-सा मार्ग चुनोगी यह भी मैं जानता हूं। शेष सुख-समाचार बाल के पत्रों से पता चलता ही होगा। तुम्हें अंतःकरण से चाहनेवाला...

—विनायक

भगतसिंह के पत्र

1

(1923 के उत्तरार्ध में घर से पहली बार फरार होते समय भगतसिंह यह पत्र अपने पिता सरदार किशनसिंह के लिए छोड़ गए थे।)

पूज्य पिता जी,

नमस्ते !

मेरी जिंदगी मकसदे आला (उच्च उद्देश्य) यानी आजादी-ए-हिंद (भारत की स्वतंत्रता) के असूल (सिद्धांत) के लिए वक्फ (दान) हो चुकी है। इसलिए मेरी जिंदगी में आराम और दुनियावी ख़ाहशात (सांसारिक इच्छाएं) बायसे कशिश (आकर्षक) नहीं हैं।

आपको याद होगा कि जब मैं छोटा था, तो बापू जी ने मेरे यज्ञोपवीत के वक्त ऐलान किया था कि मुझे खिदमते वतन (देशसेवा) के लिए वक्फ कर दिया गया है। लिहाजा मैं उस वक्त की प्रतीक्षा पूरी कर रहा हूं।

उम्मीद है आप मुझे माफ फरमाएंगे।

आपका ताबेदार

भगतसिंह

सरदार भगत सिंह

2

दिल्ली जेल
26 अप्रैल, 1929

पूज्य पिता जी महाराज,

वन्दे मातरम् !

अर्ज यह है कि हम लोग 22 अप्रैल को पुलिस की हवालात से दिल्ली जेल में मुन्तकिल (तब्दील) कर दिए गए थे और इस वक्त दिल्ली जेल में ही हैं। मुकदमा 7 मई को जेल के अंदर ही शुरू होगा। ग़ालिबन (संभवतः) एक माह में सारा ड्रामा खत्म हो जाएगा। ज्यादा फिक्र करने की जरूरत नहीं है। मुझे मालूम हुआ कि आप यहां तशरीफ लाए थे और किसी वकील वगैरह से बातचीत की थी और मुझसे मिलने की कोशिश भी की थी, मगर तब सब इंतजाम न हो सका। कपड़े मुझे परसों मिले। मुलाकात आप जिस दिन तशरीफ लाएं, हो सकेगी। वकील वगैरह की कोई खास जरूरत नहीं है। दो-एक आमूद पर थोड़ा-सा मशवरा लेना चाहता हूं। मगर यह कोई खास अहमियत नहीं रखते। आप ख्वाहमख्वाह ज्यादा तकलीफ न कीजिएगा। अगर आप मिलने के लिए आएं तो अकेले आइएगा। वालदा साहिबा (माता जी) को साथ न लाइएगा। ख्वाहमख्वाह वो रो देंगी और मुझे भी कुछ तकलीफ जरूर होगी। घर के सब हालात आप से मिलने पर ही मालूम हो सकेंगे।

हां, अगर हो सके तो गीता रहस्य, नैपोलियन की मोटी सुआने-उमरी (जीवन चरित्र) जो आपको मेरी कुतुब में मिल जाएंगी, अंग्रेजी के कुछ आला नावेल लेते आइएगा। वालदा

साहिबा, भाभी साहिबा, माता जी (दादी जी) और चाची साहिबा के चरणों में नमस्कार। रणवीर सिंह और कुलतार सिंह को नमस्ते। बापू जी (दादा जी) के चरणों में नमस्ते अर्ज कर दीजिएगा। इस वक्त पुलिस-हवालात और जेल में हमारे साथ निहायत अच्छा सलूक हो रहा है। आप किसी किस्म की फिक्र न कीजिएगा। मुझे आपका एड्रेस मालूम नहीं है, इसलिए इस पते (कांग्रेस दफ्तर) पर लिख रहा हूं।

आपका ताबेदार

भगतसिंह

रामप्रसाद 'बिस्मिल'

अंतिम समय की बातें

सर फरोशी ने वतन फिर देख लो मक़तल में है।
मुल्क़पर कुर्बान हो जाने के अरमां दिल में हैं॥
तेरा है जालिम की यारों और गला मज़लूम का।
देख लेंगे हौसला कितना दिले क़ातिल में है॥
सोरे महशर बावपा है मार का है धूम का।
बलबले जोशे शहादत हर रगे 'बिस्मिल' में है॥

आज 16 दिसंबर 1927 ई. को निम्नलिखित पंक्तियों का उल्लेख कर रहा हूं, जबकि 19 दिसंबर 1927 ई. सोमवार (पौष कृष्ण 11 संवत 1984) को 6.30 बजे प्रातःकाल इस शरीर को फांसी पर लटका देने की तिथि निश्चित हो चुकी है। अतएव नियत समय पर यह लीला संवरण करनी होगी ही। यह सब सर्व शक्तिमान प्रभु की लीला है। सब कार्य उसके इच्छानुसार हीं होते हैं। यह परम पिता परमात्मा के नियमों का परिणाम है कि किस प्रकार किसको शरीर त्यागना होता है। मृत्यु के सकल उपक्रम निमित्त मात्र हैं। जब तक कर्म क्षय नहीं होता, आत्मा को जन्म-मरण के बंधन में पड़ना ही होता है, यह शास्त्रों का निश्चय है। यद्यपि यह, पर परब्रह्म ही जानता है कि किन कर्मों के

परिणामस्वरूप कौन-सा शरीर इस आत्मा को ग्रहण करना होगा, किंतु अपने लिए यह मेरा दृढ़ निश्चय है कि मैं उत्तम शरीर धारण कर नवीन शक्तियों सहित अति शीघ्र ही पुनः भारतवर्ष में ही किसी निकटवर्ती संबंधी या इष्ट मित्र के गृह में जन्म ग्रहण करूंगा, क्योंकि मेरा जन्म जन्मांतर यही उद्देश्य रहेगा कि मनुष्यमात्र को सभी प्राकृतिक पदार्थों पर समानाधिकार प्राप्त हो। कोई किसी पर हुकूमत न करे। सारे संसार में जनतंत्र की स्थापना हो। वर्तमान समय में भारतवर्ष की बड़ी शोचनीय अवस्था है। अतएव लगातार कई जन्म इसी देश में ग्रहण करने होंगे और जब तक कि भारतवर्ष के नर-नारी पूर्णतया सर्व रूपेण स्वतंत्र न हो जाएंगे, परमात्मा से मेरी यही प्रार्थना होगी कि वह मुझे इसी देश में जन्म दे; ताकि मैं उसकी पवित्र वाणी 'वेद वाणी' का अनुपम घोष मनुष्यमात्र के कानों तक पहुंचाने में समर्थ हो सकूं। संभव है कि मैं मार्ग-निर्धारण में भूल करूं, पर इसमें मेरा कोई विशेष दोष नहीं, क्योंकि मैं भी तो अल्पज्ञ जीव मात्र ही हूं। भूल न करना केवल सर्वज्ञ से ही संभव है। हमें परिस्थितियों के अनुसार ही सब कार्य करने पड़े और करने होंगे। परमात्मा अगले जन्म में सुबुद्धि प्रदान करे कि मैं जिस मार्ग का अनुसरण करूं, वह त्रुटि-रहित ही हो।

अब मैं उन बातों का भी उल्लेख कर देना उचित समझता हूं जो काकोरी कांड के अभियुक्तों के संबंध में सेशन जज के फैसला सुनाने के पश्चात घटित हुई। 6 अप्रैल सन 1927 ई. को सेशन जज ने फैसला सुनाया था। 18 जुलाई सन 1927 ई को अवध चीफ कोर्ट में अपील हुई। इसमें कुछ की सज़ाएं बढ़ीं और एकाध की कम भी हुई। अपील होने की तारीख से पहले मैंने

संयुक्त प्रांत के गवर्नर की सेवा में एक मेमोरियल भेजा था, जिसमें प्रतिज्ञा की थी कि अब भविष्य में क्रांतिकारी दल से कोई संबंध न रखूंगा। इस मेमोरियल का जिक्र मैंने अपने अंतिम दया-प्रार्थना पत्र में जो मैंने चीफ कोर्ट के जजों को दिया था, उसमें कर दिया था; किंतु चीफ कोर्ट के जजों ने मेरी किसी प्रकार की प्रार्थना न स्वीकार की। मैंने स्वयं ही जेल से अपने मुकदमे की बहस लिखकर भेजी, जो छापी गई। जब यह बहस चीफ कोर्ट के जजों ने सुनी, तो उन्हें बड़ा संदेह हुआ कि वह बहस मेरी लिखी हुई न थी। इन तमाम बातों का यह नतीजा निकला कि चीफ कोर्ट अवध से मुझे महा भयंकर षड्यंत्रकारी की पदवी दी गई। मेरे पश्चाताप पर जजों को विश्वास न हुआ और उन्होंने अपनी धारणा का प्रकाश इस प्रकार किया कि यदि यह (रामप्रसाद) छूट गया तो फिर वही कार्य करेगा। बुद्धि की प्रखरता तथा समझ पर कुछ प्रकाश डालते हुए मैं 'निर्दयी हत्यारे' के नाम से विभूषित किया गया। लेखनी उनके हाथ में थी, जो चाहे सो लिखते, किंतु काकोरी कांड का चीफ कोर्ट का आद्योपांत फैसला पढ़ने से भली-भांति विदित होता है कि मुझे मृत्युदंड किस खयाल से दिया गया ! यह निश्चय किया गया कि रामप्रसाद ने सेशन जज के विरुद्ध आवाज उठाई है, अतएव रामप्रसाद सबसे बड़ा गुस्ताख मुलजिम है। अब माफी चाहे वह किसी भी रूप में मांगे, नहीं दी जा सकती।

चीफ कोर्ट से अपील खारिज हो जाने के बाद यथानियम प्रांतीय गवर्नर तथा फिर वाइसराय के पास दया-प्रार्थना की गई। रामप्रसाद 'बिस्मिल', राजेन्द्रनाथ लहरी, रोशनसिंह तथा अशफ़ाक उल्ला ख़ां के मृत्युदंड को बदलकर अन्य दूसरी सजा देने की

सिफारिश करते हुए संयुक्त प्रांत की कौंसिल के लगभग सभी निर्वाचित हुए मेंबरों ने हस्ताक्षर करके निवेदन पत्र दिया। मेरे पिता ने ढाई सौ रईस, आनरेरी मजिस्ट्रेट तथा जमीदारों के हस्ताक्षर से एक अलग प्रार्थना पत्र भेजा, किंतु श्रीमान सर विलियम मेरिस की सरकार ने एक भी न सुनी। उसी समय लेजिसलेटिव एसेंबली तथा कौंसिल आफ स्टेट के 78 सदस्यों ने भी हस्ताक्षर करके वाइसराय के पास प्रार्थना-पत्र भेजा कि 'काकोरी कांड' के मृत्युदंड पाए हुओं को मृत्युदंड की सजा बदलकर दूसरी सजा कर दी जाए, क्योंकि दौरा जज ने सिफारिश की है कि यदि यह लोग पश्चाताप करें तो सरकार दंड कम कर दे। चारों अभियुक्तों ने पश्चाताप प्रकट कर दिया है किंतु वाइसराय महोदय ने भी एक न सुनी।

इस विषय में माननीय पं. मदनमोहन मालवीय जी ने तथा अन्य एसेंबली के कुछ सदस्यों ने वाइसराय से मिलकर भी प्रयत्न किया था कि मृत्युदंड न दिया जाए। इतना होने पर सबको आशा थी कि वाइसराय महादेय अवश्यमेव मृत्युदंड की आज्ञा रद्द कर देंगे। इसी हालत में चुपचाप विजयादशमी से दो दिन पहले जेलों को तार भेज दिए गए, कि दया नहीं होगी। सबकी फांसी की तारीख मुकर्रर हो गई। जब मुझे सुपरिंटेंडेंट जेल ने तार सुनाया, मैंने भी कह दिया कि आप अपना कार्य कीजिए। किंतु सुपरिंटेंडेंट जेल के अधिक कहने पर कि एक तार दया-प्रार्थना का सम्राट के पास भेज दो, क्योंकि यह उन्होंने एक नियम-सा बना रखा है कि प्रत्येक फांसी के कैदी की ओर से जिसकी दया-भिक्षा की अर्जी वाइसराय के यहां से खारिज हो जाती है, वह एक तार सम्राट के नाम से प्रांतीय सरकार के पास अवश्य भेजते हैं। कोई दूसरा जेल

सुपरिंटेंडेंट ऐसा नहीं करता। उपरोक्त तार लिखते समय मेरा कुछ विचार हुआ कि प्रीवी कौंसिल इंग्लैंड में अपील की जाए। मैंने श्रीयुत मोहनलाल सक्सेना वकील लखनऊ को सूचना दी। बाहर किसी को वाइसराय की अपील खारिज होने की बात पर विश्वास भी न हुआ। जैसे-तैसे करके श्रीयुत मोहनलाल द्वारा प्रीवी कौंसिल में अपील कराई गई। नतीजा तो पहले से ही मालूम था। वहां से भी अपील खारिज हुई। यह जानते हुए कि अंग्रेज सरकार कुछ भी न सुनेगी, मैंने सरकार को प्रतिज्ञापत्र क्यों लिखा ? क्यों अपीलों पर अपीलें तथा दया-प्रार्थनाएं कीं ? इस प्रकार के प्रश्न उठते हैं, मेरी समझ में सदैव यही आया है कि राजनीति एक शतरंज के खेल के समान है। शतरंज के खेलनेवाले भलीभांति जानते हैं कि आवश्यकता होने पर किस प्रकार अपने मोहरे भी मरवा देने पड़ते हैं। बंगाल आर्डिनेंस के कैदियों के छोड़ने या उन पर खुली अदालत में मुकदमा चलाने के प्रस्ताव जब एसेंबली में पेश किए गए, तो सरकार की ओर से बड़े जोरदार शब्दों में कहा गया कि, सरकार के पास पूरा सबूत मौजूद है। खुली अदालत में अभियोग चलाने से गवाहों पर आपत्ति आ सकती है। यदि आर्डिनेंस के कैदी लेखबद्ध प्रतिज्ञा पत्र दाखिल कर दें कि वे भविष्य में क्रांतिकारी आंदोलन से कोई संबंध न रखेंगे, तो सरकार उन्हें रिहाई देने के विषय में विचार कर सकती है। बंगाल में दक्षिणेश्वर तथा सोवा बाजार बम-केस आर्डिनेंस के बाद चले। खुफिया विभाग के डिप्टी सुपरिंटेंडेंट के कत्ल का मुकदमा भी खुली अदालत में हुआ, और भी कुछ हथियारों के मुकदमे खुली अदालत में चलाए गए किंतु कोई एक भी दुर्घटना या हत्या की सूचना पुलिस न दे सकी। काकोरी षड्यंत्र-केस पूरे डेढ़ साल तक

खुली अदालतों में चलता रहा। सबूत की ओर से लगभग तीन सौ गवाह पेश किए गए। कई मुखबिर तथा इकबाली खुली तौर से घूमते रहे, पर कहीं कोई दुर्घटना या किसी को धमकी देने की पुलिस ने कोई सूचना न दी। सरकार की इन बातों की पोल खोलने की गरज से ही मैंने लेखबद्ध बंधेज सरकार को दिया। सरकार के कथनानुसार जिस प्रकार बंगाल आर्डिनेंस के कैदियों के संबंध में सरकार के पास पूरा सबूत था और सरकार उनमें से अनेकों को भयंकर षड्यंत्रकारी दल का सदस्य तथा हत्याओं का जिम्मेदार समझती तथा कहती थी, तो इसी प्रकार काकोरी के कांडकारियों के लेखबद्ध प्रतिज्ञा करने पर कोई गौर क्यों न किया ? बात यह है कि जबरा मारे, रोने न देवे। मुझे तो भलीभांति मालूम था कि संयुक्त प्रांत में जितने राजनैतिक अभियोग चलाए जाते हैं, उनके फैसले खुफ़िया पुलिस के इच्छानुसार लिखे जाते हैं। बरेली पुलिस कांस्टेबिलों की हत्या के अभियोग में नितांत निर्दोष नवयुवकों को फंसाया गया और सी.आई.डी. वालों ने अपनी डायरी दिखलाकर फैसला लिखाया। काकोरी कांड में भी अंत में ऐसा ही हुआ। सरकार की सब चालों को जानते हुए भी मैंने सब कार्य उसकी लंबी लंबी बातों की पोल खोलने के लिए की किए। काकोरी के मृत्युदंड पाए हुओं की दया प्रार्थना न स्वीकार करने का कोई विशेष कारण सरकार के पास नहीं। सरकार ने बंगाल आर्डिनेंस के कैदियों के संबंध में जो कुछ कहा था, सो काकोरी वालों ने किया। मृत्युदंड को रद्द कर देने से देश में किसी प्रकार की शांति भंग होने अथवा किसी विप्लव हो जाने की संभावना न थी। विशेषतया जबकि देश-भर के सब प्रकार के हिंदू-मुसलमान एसेंबली के सदस्यों ने इसकी सिफारिश की थी।

कांडकारियों की इतनी बड़ी सिफारिश इससे पहले कभी नहीं हुई। किंतु सरकार तो अपना पासा सीधा रखना चाहती है। उसे अपने बल पर विश्वास है। सर विलियम मेरिस ने ही स्वयं शाहजहांपुर तथा इलाहाबाद के हिंदू-मुस्लिम दंगे के अभियुक्तों के मृत्युदंड रद्द किए हैं, जिनको कि इलाहाबाद हाईकोर्ट में मृत्युदंड ही देना उचित समझा गया था और उन लोगों पर दिन दहाड़े हत्या करने के सीधे सबूत मौजूद थे। ये सजाएं ऐसे समय माफ की गई थीं, जबकि नित्य नए हिंदू-मुस्लिम दंगे बढ़ते ही जाते हैं। यदि काकोरी के कैदियों को मृत्युदंड माफ करके, दूसरी सजा देने से दूसरों का उत्साह बढ़ता तो क्या इसी प्रकार मजहबी दंगों के संबंध में भी नहीं हो सकता था ? मगर वहां तो मामला कुछ और ही है; जो अब भारतवासियों के नरम-से-नरम दल के नेताओं के भी शाही कमीशन मुकर्रर होने और उसमें एक भी भारतवासी के न चुने जाने; पार्लमेंट में भारत सचिव लार्ड वर्कनहेड के तथा अन्य मजदूर दल के नेताओं के भाषणों से भलीभांति समझ में आया है कि किस प्रकार भारतवर्ष को गुलामी की जंजीरों में जकड़े रहने की चालें चली जा रही हैं।

मुझे प्राण त्यागते समय निराश हो जाना नहीं पड़ रहा है कि हम लोगों के बलिदान व्यर्थ गए। मेरा तो विश्वास है कि हम लोगों की छिपी हुई आहों का ही यह नतीजा हुआ कि लार्ड वर्कनहेड के दिमाग में परमात्मा ने एक विचार उपस्थित किया कि हिंदुस्तान के हिंदू-मुस्लिम झगड़ों का लाभ उठाओ और भारतवर्ष की जंजीरें और कस दो। गए थे रोजा छोड़ने, नमाज गले पड़ गई। भारतवर्ष के प्रत्येक विख्यात राजनैतिक दल ने और हिंदुओं के तो लगभग सभी तथा मुसलमानों के भी अधिकारी नेताओं ने एक स्वर होकर

रायल कमीशन की नियुक्ति तथा उसके सदस्यों के विरुद्ध घोर विरोध किया है, और अगली कांग्रेस (मद्रास) पर सब राजनैतिक दल के नेता तथा हिंदू-मुसलमान एक होने जा रहे हैं। वाइसराय ने जब हम काकोरी के मृत्युदंड वालों की दया-प्रार्थना अस्वीकार की थी, उसी समय मैंने श्रीयुत मोहनलाल जी को पत्र लिखा था कि हिंदुस्तानी नेताओं को तथा हिंदू-मुसलमानों को अग्रिम कांग्रेस पर एकत्रित हो हम लोगों की याद मनाना चाहिए। सरकार ने अशफ़ाक उल्ला को रामप्रसाद का दाहिना हाथ करार दिया। अशफ़ाक उल्ला कट्टर मुसलमान होकर पक्के आर्यसमाजी रामप्रसाद का क्रांतिकारी दल के संबंध में यदि दाहिना हाथ बन सकते हैं, तब क्या भारतवर्ष की स्वतंत्रता के नाम पर हिंदू-मुसलमान अपने निजी छोटे छोटे फायदों का ख्याल न करके आपस में एक नहीं हो सकते ?

परमात्मा ने मेरी पुकार सुन ली और मेरी इच्छा पूरी होती दिखाई देती है। मैं तो अपना कार्य कर चुका। मैंने मुसलमानों में से एक नवयुवक निकाल कर भारतवासियों को दिखला दिया, जो सब परीक्षाओं में पूर्णतया उत्तीर्ण हुआ। अब किसी को यह कहने का साहस न होना चाहिए कि मुसलमानों पर विश्वास न करना चाहिए। पहला तजुर्बा था जो पूरी तौर से कामयाब हुआ। अब देशवासियों से यही प्रार्थना है कि यदि वे हम लोगों के फांसी पर चढ़ने से जरा भी दुखित हुए हों, तो उन्हें यही शिक्षा लेनी चाहिए कि हिंदू-मुसलमान तथा सब राजनैतिक दल एक होकर कांग्रेस को अपना प्रतिनिधि मानें। जो कांग्रेस तय करे, उसे सब पूरी तौर से मानें और उस पर अमल करें। ऐसा करने के बाद वह दिन बहुत दूर न होगा जब कि अंग्रेजी सरकार को भारतवासियों की मांग

के सामने सिर झुकाना पड़े, और यदि ऐसा करेंगे तब तो स्वराज्य कुछ दूर नहीं। क्योंकि फिर तो भारतवासियों को काम करने का पूरा मौका मिल जाएगा। हिंदू-मुस्लिम एकता ही हम लोगों की यादगार तथा अंतिम इच्छा है, चाहे वह कितनी कठिनता से क्यों न हो। जो मैं कह रहा हूं वही श्रीमान अशफ़ाक उल्ला खां बारसी का भी मत है, क्योंकि अपील के समय हम दोनों लखनऊ जेल में फांसी की कोठरियों में आमने-सामने कई दिन तक रहे थे। आपस में हर तरह की बातें हुई थीं। गिरफ्तारी के बाद से हम लोगों की सजा पड़ने तक श्रीमान अशफ़ाक उल्ला खां की बड़ी भारी उत्कट इच्छा यही थी, कि वह एक बार मुझसे मिल लेते, जो परमात्मा ने पूरी कर दी।

श्रीमान अशफ़ाक उल्ला खां तो अंग्रेज सरकार से दया-प्रार्थना करने पर राजी ही न थे। उनका तो अटल विश्वास यही था कि खुदाबंद करीम के अलावा किसी दूसरे से दया की प्रार्थना न करना चाहिए, परंतु मेरे विशेष आग्रह से ही उन्होंने सरकार से दया-प्रार्थना की थी। इसका दोषी मैं ही हूं, जो मैंने अपने प्रेम के पवित्र अधिकारों का उपयोग करके श्रीमान अशफ़ाक उल्ला खां को उनके दृढ़ निश्चय से विचलित किया। मैंने एक पत्र द्वारा अपनी भूल स्वीकार करते हुए भ्रातृ द्वितीया के अवसर पर गोरखपुर से श्रीमान अशफ़ाक को पत्र लिखकर क्षमा प्रार्थना की थी। परमात्मा जाने कि वह पत्र उनके हाथों तक पहुंचा भी या नहीं। खैर ! परमात्मा की ऐसी ही इच्छा थी कि हम लोगों को फांसी दी जाए, भारतवासियों के जले हुए दिलों पर नमक पड़े, वे बिलबिला उठें और हमारी आत्माएं उनके कार्य को देखकर सुखी हों। जब हम नवीन शरीर धारण करके देश सेवा

में योग देने को उद्यत हों, उस समय तक भारतवर्ष की राजनैतिक स्थिति पूर्णतया सुधरी हुई हो। जनसाधारण का अधिक भाग सुशिक्षित हो जाए। ग्रामीण लोग भी अपने कर्तव्य समझने लग जाएं।

प्रीवी कौंसिल में अपील भिजवा कर मैंने जो व्यर्थ का अपव्यय करवाया उसका भी एक विशेष अर्थ था। सब अपीलों का तात्पर्य यह था कि मृत्युदंड उपयुक्त दंड नहीं। क्योंकि न जाने किस की गोली से आदमी मारा गया। अगर डकैती डालने की जिम्मेवारी के खयाल से मृत्युदंड दिया गया तो चीफ कोर्ट के फैसले के अनुसार भी मैं ही डकैतियों का जिम्मेदार तथा नेता था, और प्रांत का नेता भी मैं ही था। अतएव मृत्युदंड तो अकेला मुझे ही मिलना चाहिए था। अन्य तीन को फांसी नहीं देना चाहिए था। इसके अतिरिक्त दूसरी सजाएं सब स्वीकार होतीं। पर ऐसा क्यों होने लगा ? मैं विलायती न्यायालय की भी परीक्षा करके स्वदेशवासियों के लिए उदाहरण छोड़ना चाहता था, कि यदि कोई राजनैतिक अभियोग चले तो वे कभी भूल करके भी किसी अंग्रेजी अदालत का विश्वास न करें। तबियत आए तो जोरदार बयान दें। अन्यथा मेरी तो यही राय है कि अंग्रेजी अदालत के सामने न तो कभी कोई बयान दें और न कोई सफाई पेश करें। काकोरी कांड के अभियोग से शिक्षा प्राप्त कर लें। इस अभियोग में सब प्रकार के उदाहरण मौजूद हैं। प्रीवी कौंसिल में अपील दाखिल कराने का एक विशेष अर्थ यह भी था कि मैं कुछ समय तक फांसी की तारीख हटवाकर यह परीक्षा करना चाहता था कि नवयुवकों में कितना दम है, और देशवासी कितनी सहायता दे सकते हैं। इसमें मुझे बड़ी निराशापूर्ण असफलता हुई अंत में मैंने निश्चय किया था

कि यदि हो सके तो जेल से निकल भागूं। ऐसा हो जाने से सरकार को अन्य तीनों फांसीवालों की फांसी की सजा माफ कर देनी पड़ेगी, और यदि न करते तो मैं करा लेता। मैंने जेल से भागने के अनेकों प्रयत्न किए, किंतु बाहर से कोई सहायता न मिल सकी। यही तो हृदय पर आघात लगता है कि जिस देश में मैंने इतना बड़ा क्रांतिकारी आंदोलन तथा कांडकारी दल खड़ा किया था, वहां से मुझे प्राण-रक्षा के लिए एक रिवाल्वर तक न मिल सका। एक नवयुवक भी सहायता को न आ सका। अंत में फांसी पा रहा हूं। फांसी पाने का मुझे कोई भी शोक नहीं, क्योंकि मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं, कि परमात्मा को यही मंजूर था। मगर मैं नवयुवकों से भी नम्र निवेदन करता हूं कि जब तक भारतवासियों की अधिक संख्या सुशिक्षित न हो जाए, जब तक उन्हें कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान न हो जाए, तब तक वे भूलकर भी किसी प्रकार के क्रांतिकारी कांडों में भाग न लें। यदि देश सेवा की इच्छा हो तो खुले आंदोलनों द्वारा यथाशक्ति कार्य करें अन्यथा उनका बलिदान उपयोगी न होगा। दूसरे प्रकार से इससे अधिक देश सेवा हो सकती है, जो अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। परिस्थिति अनुकूल न होने से ऐसे आंदोलनों से अधिकतर परिश्रम व्यर्थ जाता है। जिनकी भलाई के लिए करो, वही बुरे बुरे नाम धरते हैं, और अंत में मन-ही-मन कुढ़-कुढ़कर प्राण त्यागने पड़ते हैं।

देशवासियों से यही अंतिम विनय है कि जो कुछ करें, सब मिलकर करें, और सब देश की भलाई के लिए करें। इसी से सबका भला होगा। बस !

मरते 'बिस्मिल' 'रोशन' 'लहरी' 'अशफाक' अत्याचार से।
होंगे पैदा सैकड़ों इनके रुधिर की धार से॥